की या केवल रूसियों की ही विशेषता है। हम सिद्ध कर सकते हैं कि अपने आदिम रूप में इस तरह का सामूहिक अधिकार रोमन, जर्मन और कैल्ट लोगों में भी था; और इसके अनेक उदाहरण बहुत कुछ तबाही की हालत में, हिन्दुस्तान में आज भी मिल सकते हैं। अगर हम सामूहिक सम्पत्ति के एशियाई और विशेषकर हिन्दुस्तानी रूपों का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि आदिम साम्यवाद के विभिन्न रूपों से किस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार की ऐसी धाराएँ फूट निकलीं जिन्होंने उस समाज को नष्ट कर दिया। उदाहरण के लिये, रोमन और जर्मन व्यक्तिगत सम्पत्ति के जो विभिन्न मूल रूप थे, उनका सम्बन्ध हम हिन्दुस्तानी साम्यवाद के विभिन्न रूपों से पायेंगे।" (मार्क्स, *पूँजी : अर्थशास्त्र की समीक्षा*, पहला अध्याय)।

तब पश्चिम की तरह, पूरब में भी आदिम साम्यवाद से व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति और सामन्तवाद का विकास क्यों नहीं हुआ? एंगेल्स का सुझाव है कि इसका कारण वहाँ की जलवायु और भौगोलिक परिस्थिति है:

"ऐसा क्यों हुआ कि पूरब में व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति और सामन्तवाद का विकास नहीं हो पाया? मेरी समझ में इसका मुख्य कारण वहाँ की जलवायु है। इसके साथ, वहाँ की खास तरह की धरती भी एक कारण है। विशेष रूप से, उन बड़े रेगिस्तानी इलाकों का इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्व है जो सहारा से लेकर अरब, ईरान, हिन्दुस्तान और तातारों के प्रदेश से होते, हुए एशिया के सबसे ऊँचे पठारों तक फैले हुए हैं। वहाँ खेती की पहली शर्त यह है कि मनुष्य सिंचाई का प्रबन्ध करे; और यह काम या तो गाँव की पंचायत के जिम्मे होता है या सूबा अथवा केन्द्रीय सरकार के।" (एंगेल्स, *मार्क्स को पत्र*, ६ जून, १८५३)।

खेती जिन परिस्थितियों में होती थी, उनके कारण भूमि पर निजी स्वामित्व हो सकना असम्भव था। इसलिये, उस विशेष प्रकार की "एशियाई अर्थ-व्यवस्था" का विकास हुआ, जिसमें नीचे गाँवों में तो आदिम

विषय-सूची

वाली चीजें हैं, जान-बूझ कर और भी बढ़ा-चढ़ा कर क.. जाते हैं। उदाहरण के लिये, टाइम्स में सर्वप्रथम निकलने वाली दिल्ली और मेरठ में किये गए दुराचारों की परिस्थितियों का सविस्तार वर्णन, जो बाद में लन्दन के अन्य पत्रों में भी छपा, उसे किसने भेजा? बंगलोर, मैसूर में रहने वाले एक कायर पादरी ने, जो एक सीध में लिया जाय तो घटना-स्थल से एक हजार मील से भी अधिक दूर था। दिल्ली के वास्तविक विवरण बताते हैं कि एक अंग्रेज पादरी की कल्पना हिन्द के बलवाई की कल्पना की दूर की उड़ान से भी अधिक भयानक अत्याचार गढ़ सकती है। नाक और छातियों का काटना आदि, एक शब्द में, सिपाहियों द्वारा किये गए भीषण अंग-भंग, यूरोपियन भावना को 'मैनचेस्टर शान्ति समाज'[1] के एक मन्त्री द्वारा कैन्टन के घरों पर फेंके गये जलते हुए गोलों से, अथवा किसी फ्रांसीसी मार्शल द्वारा[2] गुफा में बन्द अरबों को भून देने से, या किसी जड़-मस्तिष्क फौजी अदालत द्वारा अंग्रेजी सिपाहियों की 'नौ दुम की बिल्ली' नाम के कोड़े से जीते-जी चमड़ी उधेड़ने से, या ब्रिटेन के जेल-सदृश उपनिवेशों में प्रयोग होने वाले अन्य मनुष्य-उद्धारक यन्त्र—इन सभी से कहीं अधिक भीषण लगते हैं। किसी भी अन्य वस्तु की तरह, क्रूरता का भी अपना फ़ैशन होता है और वह स्थान

१. मार्क्स जॉन बाउरिंग की बात कह रहे हैं, जो इंग्लैण्ड के शान्ति समाज और अन्य निर्बन्ध-व्यापार संगठनों का एक नेता था। १९वीं शताब्दी के छठे दशक में जब वह कैन्टन में ब्रिटिश दूत के पद पर था और हांगकांग में सेनापति था, इस "मनुष्य-उद्धारक" ने अपने को क्रूर और कठोर उपनिवेश-निर्माता सिद्ध किया। अक्तूबर १८५६ में, उसने चीनी अधिकारियों से लड़ाई मोल ली, क्योंकि उन्होंने ब्रिटिश झण्डे के नीचे निषिद्ध वस्तुएँ ले जाते एक जहाज पर आक्रमण किया था। उसने कैन्टन पर बम बरसाने की आज्ञा दे दी। यह एक बर्बर कार्य था और इसने चीन से युद्ध (१८५६-५८) का श्रीगणेश किया—। सम्पादक

२. अल्जीरिया में १८४५ में एक विद्रोह दबाते हुए जनरल पलीसियर ने, जो बाद में फ्रांस का मार्शल हुआ, एक सहस्र अरब विद्रोहियों को पर्वतों की गुफाओं में बन्द करके और उनके द्वार पर आग जलाकर उन्हें मार डालने की आज्ञा दी थी। —सम्पादक

कार्ल मार्क्स

भूमिका

रजनी पाम दत्त

तेरह वर्षों पहले तक यह हालत थी कि इंग्लैण्ड का एक प्रमुख समाजवादी लेखक भारत के बारे में यह मत प्रकट कर सकता था कि "मार्क्सवाद की बनी-बनाई स्थापनाओं की दृष्टि से भारत को समस्याओं को समझने की चेष्टा करना, समाजवाद की प्रगति में गम्भीर बौद्धिक मदद देना नहीं, बल्कि केवल कल्पना के घोड़े दौड़ाना है।" (हैरोल्ड लास्की, *कम्युनिज़्म*, १६२७, पृष्ठ १६४)।

वास्तव में, पश्चिमी यूरोप के समाजवादी लेखकों को, आम तौर पर, यह पता ही नहीं था कि मार्क्स ने निरन्तर हिन्दुस्तान की समस्याओं पर विचार किया था और उन पर काम किया था। सच तो यह है कि भारत पर मार्क्स के प्रसिद्ध लेख, जो उन्होंने १८५३ में लिखे थे, बहुत ही विचार-पूर्ण और सुझावों से भरे हुए हैं। इन प्रश्नों पर आजकल अनुसन्धान करने के लिये भी उन्हीं लेखों से श्रीगणेश करना पड़ता है। मार्क्स की रचनाओं का अच्छी तरह अध्ययन करने से पता चलता है कि एशिया की, और खास तौर पर भारत और चीन की, अर्थ-व्यवस्था की खास-खास विशेषताओं पर उनका बराबर ध्यान रहा था। वह बराबर इस बात की खोज कर रहे थे कि इस अर्थ-व्यवस्था पर यूरोप के पूँजीवाद का क्या प्रभाव पड़ा है और संसार के भावी विकास के लिये तथा भारत एवं चीन [illegible]ता की स्वतन्त्रता के लिये उससे क्या परिणाम निकाले जा

सकते हैं। मार्क्स ने हिन्दुस्तान की समस्याओं का कितनी गहराई से अध्ययन किया था इसका पता इसी से लग जाता है कि उन्होंने अपने ग्रंथ *पूँजी* में हिन्दुस्तान का लगभग पचास बार जिक्र किया है। मार्क्स-एंगेल्स के पत्र-व्यवहार में तो इससे भी ज्यादा बार भारत का जिक्र आया है।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र (जिसमें मार्क्स और एंगेल्स ने यह बताया था कि पूँजीवादी उत्पादन के लिये हिन्दुस्तान और चीन के बाजारों का खुलना क्यों आवश्यक है) लिखने के बाद और १८४८ की क्रान्ति की लहर के दब जाने के बाद, मार्क्स ने इस बात की खोज-बीन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया कि यह लहर क्यों दब गई। उन्होंने देखा कि इसका सबसे बड़ा कारण यूरोप के बाहर, एशिया, आस्ट्रेलिया और कैलिफ़ोर्निया में पूँजीवाद का नया प्रसार था। १८५२ में, एंगेल्स ने मार्क्स को एक पत्र लिखा था (एंगेल्स का मार्क्स के नाम २१ अगस्त, १८५२ का पत्र), जिसमें उन्होंने इस धारणा की ओर संकेत किया था। १८५८ में, मार्क्स ने एंगेल्स को जो पत्र लिखा उसमें यह बात और भी स्पष्ट होकर सामने आई। मार्क्स ने लिखा था :

> "हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि पूँजीवादी समाज के लिये फिर सोलहवीं सदी आ गई है। मुझे आशा है कि जैसे पहले इसने पूँजीवाद को जन्म दिया था, वैसे ही अब यह उसकी मौत की घण्टी बजायेगी। पूँजीवादी समाज का मुख्य काम है एक संसारव्यापी बाजार क़ायम करना, या कम से कम उसका ढाँचा खड़ा कर देना और उसके आधार पर उत्पादन का संगठन करना। चूँकि दुनिया गोल है, इसलिये मालूम पड़ता है कि कैलिफ़ोर्निया और आस्ट्रेलिया में उपनिवेश क़ायम हो जाने तथा चीन और जापान के बाजारों के खुल जाने के बाद यह काम पूरा हो गया है। अब हमारे लिये वजनदार सवाल यह है : यूरोप में क्रान्ति होने ही वाली है और आरम्भ से ही उसका समाजवादी रूप होगा। लेकिन दुनिया

के इससे कहीं बड़े भाग में चूँकि अब भी पूँजीवादी समाज का ही बोलबाला है, इसलिए क्या इस छोटे से कोने में उसे लाजिमी तौर पर कुचल नहीं दिया जायगा?" (मार्क्स, *एंगेल्स को पत्र*, ८ अक्तूबर, १८५८)।

अतः यूरोप के बाहर पूँजीवाद का जो प्रसार हो रहा था, उसका पूँजीवाद के विकास के लिये तथा यूरोप में समाजवादी क्रान्ति के लिये क्या महत्त्व है, यह मार्क्स ने उन्नीसवीं सदी के छठे दशक में ही अच्छी तरह समझ लिया था, जबकि यूरोप के अधिकतर समाजवादी विचारकों की समझ में यह बात अभी थोड़े ही दिनों से आने लगी है।

१८५३ में, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर के फिर से जारी किये जाने का सवाल आखिरी बार पार्लामेण्ट के सामने आया। उस समय न्यू यौर्क के पत्र *डेली ट्रिब्यून* में मार्क्स ने आठ लेख लिखे। इनके साथ, *पूँजी* में और उनके पत्र-व्यवहार में भारत का जो उल्लेख हुआ है, उस सबको पढ़ने से हमें भारत के सम्बन्ध में मार्क्स के विचारों का मूल तत्त्व मिल जायेगा।

भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का विनाश

मार्क्स ने अपना विश्लेषण एशियाई अर्थ-व्यवस्था की विशेषताओं से शुरू किया। इस व्यवस्था की जड़ें सबसे पहले पूँजीवाद के सम्पर्क से ढीली पड़ीं। एंगेल्स ने जून १८५३ में मार्क्स को लिखा था: "सारे पूरब को समझने की कुंजी यह है कि वहाँ जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं है।" किन्तु जमीन का व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में न होना कोई अनोखी बात नहीं है, क्योंकि यूरोप की आर्थिक व्यवस्था का भी शुरू में यही रूप था। भेद, वास्तव में, बाद के विकास से पैदा हुआ। मार्क्स ने लिखा है:

> "कुछ दिनों से लोगों में यह बेसिर-पैर की धारणा फैल गई है कि आदिम रूप में सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होना स्लाव जातियों

साम्यवाद के अवशेष पाये जाते थे और ऊपर निरंकुश केन्द्रीय सरकार होती थी। इस सरकार का काम सिंचाई का प्रबन्ध करने और सार्वजनिक उपयोग के निर्माण-कार्य करने के साथ-साथ लूट-मार और लड़ाई भी था।

अतः हिन्दुस्तान को समझने की कुंजी यह है कि वहाँ के गाँवों की व्यवस्था को समझा जाय। *पूँजी* में मार्क्स ने इस ग्राम-व्यवस्था की बेजोड़ तसवीर खींची है। उन्होंने लिखा है:

"हिन्दुस्तान की ये छोटी-छोटी और अत्यन्त प्राचीन बस्तियाँ, जिनमें से कुछ आज तक चली आती हैं, जमीन के सामूहिक अधिकार, खेती तथा दस्तकारी की मिलावट और एक ऐसे श्रम-विभाजन पर आधारित हैं जो कभी नहीं बदलता और जो नई बस्ती शुरू करने के समय पहले से बनी-बनाई तैयार योजना के रूप में काम आता है। इन बस्तियों के पास सौ से लगाकर कई हजार एकड़ तक जमीन रहती है, और हर बस्ती अपने में पूर्ण होती है तथा अपनी जरूरत की सभी चीजें अपने-आप पैदा कर लेती है। पैदावार का अधिकतर भाग सीधे बस्ती के ही काम में आता है और वह बाजार का माल नहीं बनता। इसलिये, माल को बेचने और खरीदने से समाज में जो श्रम-विभाजन आता है, दरअसल जो सारे हिन्दुस्तानी समाज में आ भी चुका है, उसका असर यहाँ के उत्पादन पर नहीं पड़ता। खाने-खरचने से बची हुई अतिरिक्त पैदावार ही बिकाऊ माल बनती है, और असल में तो उसका भी एक हिस्सा उस वक्त तक बेचने के काम में नहीं आता जब तक कि वह राज्य के हाथों में नहीं पहुँच जाता। बाबा आदम के जमाने से यह रीति चली आ रही है कि पैदावार का एक हिस्सा, बतौर लगान के, राज्य को दे दिया जाता है।

"हिन्दुस्तान के अलग-अलग हिस्सों में इन प्राचीन बस्तियों की रचना अलग-अलग ढंग की है। सबसे सरल रूप यह है कि सब लोग मिलकर खेती करते हैं और आपस में पैदावार बाँट लेते हैं। इसके साथ-साथ, कातने और बुनने का काम हर कुनबे में सहायक

धन्धे के रूप में होता है। इस प्रकार, एक ओर, गाँव के आम लोग होते हैं जो एक ही प्रकार के काम में जुटे हुए होते हैं। दूसरी ओर, 'मुखिया' होता हैं जो जज, पुलिस और तहसीलदार का काम एक-साथ करता है। पटवारी खेती-बाड़ी का हिसाब रखता है और उसके बारे में हर बात अपने काग़ज़ों में दर्ज करता है। एक दूसरे कर्मचारी का काम होता है कि वह अपराधियों पर मुक़दमा चलाये, अजनबी मुसाफ़िरों की हिफ़ाज़त करे और उन्हें अगले गाँव तक सकुशल पहुँचा आये। डंडैत पड़ौस की बस्तियों से गाँव की सरहद की रक्षा करता है। आबपाशी का हाकिम सिंचाई वाले तालाबों से पानी बाँटता है। ब्राहरण धार्मिक अनुष्ठान कराता है। पाठशाला का पण्डित बच्चों को बालू में लिखना-पढ़ना सिखाता है। ज्योतिषी जोतने-बोने, फ़सल काटने और खेती के दूसरे कामों के लिये महूरत विचारता है। लोहार और बढ़ई खेती के औजार बनाते हैं और उनकी मरम्मत करते हैं। कुम्हार सारे गाँव के लिये बरतन-भाँड़े तैयार करता है। इनके साथ नाई, धोबी, सुनार और कहीं-कहीं कवि भी होता है जो कुछ बस्तियों में सुनार का और कुछ में पाठशाला के पण्डित का भी काम करता है। इन दस-बारह आदमियों की जीविका पूरी बस्ती के सहारे चलती है। अगर आबादी बढ़ी तो खाली जमीन पर, उसी पुराने ढाँचे के मुताबिक एक नई बस्ती खड़ी हो जाती है।.......

"अपने में पूर्ण, इन बस्तियों में उत्पादन का संगठन बहुत ही सरल ढंग से किया जाता है। ये बस्तियाँ लगातार एक ही ढंग की नई-नई बस्तियों को जन्म देती रहती हैं। अकस्मात् अगर कोई बस्ती बरबाद हो जाती है, तो उसी जगह पर और उसी नाम से, वैसी ही दूसरी बस्ती उठ खड़ी होती है। एशिया के समाजों में जो कभी कोई परिवर्तन नहीं होता दिखाई देता, उसका कारण यही है। एशिया के राज्य लगातार बिगड़ते और बनते तथा हुकूमत करने वाले राजवंश लगातार बदलते रहते हैं। लेकिन उसके विपरीत, ये ग्रामीण समाज

सदा ज्यों के त्यों बने रहते हैं। राजनीति के आकाश में जो तूफ़ानमें बादल उठते हैं, उनका कोई भी असर समाज के आर्थिक तत्त्वों के ढाँचे पर नहीं पड़ता।" (मार्क्स, पूँजी, खण्ड १, अध्याय १४, अंश ४)।

ऐसी थी वह परम्परागत भारतीय अर्थ-व्यवस्था, जिस पर विदेशी पूँजीवाद ने धावा बोला था और ब्रिटिश शासन के रूप में जिसने उसकी नींवें हिला दी थीं। अंग्रेजों से पहले और लोगों ने भी हिन्दुस्तान को जीता था, परन्तु उनकी जीतों और इस जीत में अन्तर था। पहले के विदेशी विजेताओं ने यहाँ की आर्थिक व्यवस्था को हाथ नहीं लगाया था और अन्त में वे भी उसी में घुल-मिल गये थे। अंग्रेजों की जीत ने इस व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। वे एक विदेशी ताक़त ही बने रहे और हिन्दुस्तान की दौलत बाहर भेजते रहे। भारत में विदेशी पूँजीवाद की जीत और यूरोप में पूँजीवाद की जीत में भी अन्तर था। यूरोप की तरह, भारत में ध्वंसात्मक क्रिया के साथ-साथ नई शक्तियों का उदय नहीं हुआ। इसीलिये, ब्रिटिश शासन के नीचे हिन्दुस्तानी जनता में दुःखों के साथ-साथ "एक विशेष प्रकार की उदासी" भी आई, क्योंकि उसकी "पुरानी दुनिया बिछुड़ गई और नई का कहीं पता नहीं" लगा। मार्क्स ने लिखा है :

"इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान पर जो मुसीबत ढायी है वह, हिन्दुस्तान ने इसके पहले जितनी मुसीबतें उठाई थीं उनसे, बुनियादी तौर पर भिन्न और अधिक गहरी है। मेरा संकेत यूरोप की निरंकुश तानाशाही की ओर नहीं है, जिसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने हिन्दुस्तान पर लाद दिया है और एशिया की अपनी तानाशाही के साथ जिसके मेल से एक ऐसा भयानक दैत्य पैदा हुआ कि उसके सामने सालसेट के मन्दिर की भयंकर देव मूर्तियाँ भी फीकी पड़ जाती हैं।........

"हिन्दुस्तान में अनेक गृह-युद्ध छिड़े हैं विदेशी आक्रमण हुए हैं,

ाँ हुई हैं, देश-विदेशियों द्वारा बार-बार जीता गया है, अकाल
परन्तु ये घटनाएँ ऊपर से देखने में अनोखी उलझनों से
..., जल्दी-जल्दी होने वाली और सत्यानाशी क्यों न मालूम पड़ती
हों, वे हिन्दुस्तान की केवल ऊपरी सतह को छूती थीं और उनका असर उससे गहरे नहीं जाता था। लेकिन, इंग्लैण्ड ने भारतीय समाज के पूरे ढाँचे को तोड़ डाला है और उसके पुनर्निर्माण के अभी तक कोई चिह्न नहीं दिखाई दे रहे हैं। पुरानी दुनिया का इस तरह बिछुड़ जाना और नई का कहीं पता न लगना—इससे हिन्दुस्तानियों के वर्तमान दुःखों पर एक विशेष प्रकार की उदासी की परत चढ़ जाती है; और ब्रिटेन के शासन के नीचे, हिन्दुस्तान, अपनी सारी प्राचीन परम्पराओं और अपने सम्पूर्ण पुराने इतिहास से कट जाता है।" (मार्क्स, *हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन*, न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून, २५ जून, १८५३)।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन की ध्वंस-लीला

मार्क्स ने बड़े ध्यान से इस विनाश-क्रम का अध्ययन किया था और १८१३ के पहले के और बाद के दो युगों के अन्तर को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया था। १८१३ के पहले, हिन्दुस्तान पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी को एकाधिकार मिला हुआ था। १८१३ के बाद, यह एकाधिकार टूट गया और इंग्लैण्ड के पूँजीवादी कारखानों के बने हुये माल ने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई बोल कर रही-सही कसर भी पूरी कर दी।

पहले युग में, कम्पनी ने एक तो सीधे-सीधे बेतहाशा लूट के जरिये विनाश का आरम्भ किया ("पूरी १८ वीं सदी में, हिन्दुस्तान से जो दौलत इंग्लैण्ड आई, वह व्यापार से बहुत कम प्राप्त हुई थी, क्योंकि तब व्यापार का महत्त्व बहुत नहीं था। वह अधिकतर हिन्दुस्तान के प्रत्यक्ष शोषण से प्राप्त हुई थी और बेतहाशा लूट-मार मचा कर और ज़बरदस्ती पैसा छीन कर बटोरी गई थी")। दूसरे, कम्पनी ने सिंचाई और सार्वजनिक

निर्माण के कामों की ओर ध्यान देना बन्द कर दिया। पहले की हुकूमतें ये काम करती थीं, परन्तु अब उनकी तरफ़ सरासर लापरवाही बरती जाने लगी। तीसरे, कम्पनी ने ज़मींदारी की अंग्रेज़ी प्रथा को जन्म दिया और ज़मीन पर व्यक्तिगत अधिकार तथा ज़मीन को बेचने और खरीदने की प्रथा को जारी किया। साथ ही, उसने पूरा अंग्रेज़ी फ़ौजदारी क़ानून हिन्दुस्तान में लागू कर दिया। चौथे, हिन्दुस्तान के बने हुए माल को, एकदम प्रतिबंध लगा कर या भारी चुंगी लगा कर, पहले इंग्लैण्ड में और फिर यूरोप में आने से रोक दिया।

लेकिन, इस सबसे भी "विनाश का काम आखिरी तौर पर पूरा" नहीं हुआ था। वह पूरा हुआ उन्नीसवीं सदी का पूँजीवादी युग आने पर।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिकार का अंग्रेज़ धन-कुबेरों के उस गुट से घनिष्ठ सम्बन्ध था, जिसने ह्विग-क्रान्ति के द्वारा इंग्लैण्ड में अपनी हुकूमत क़ायम कर ली थी।

"ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जन्म की सच्ची तारीख १७०२ से पहले के काल में निश्चित नहीं की जा सकती, क्योंकि पूरब के व्यापार पर एकाधिकार का दावा करने वाली विभिन्न संस्थाओं ने उसी साल मिल कर एक संयुक्त कम्पनी बनाई थी। उसके पहले तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अस्तित्व तक कई बार खतरे में पड़ चुका था। एक बार क्रौमवेल की सरकार ने कई सालों तक उसका काम बन्द कर दिया था। फिर विलियम तृतीय के शासन-काल में, पार्लामेण्ट के हस्तक्षेप से उसके बिलकुल भंग कर दिये जाने की नौबत आ गई थी।

"पार्लामेण्ट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अस्तित्व को तब स्वीकार किया जब डच राजा के अभ्युदय काल में ह्विगदल वाले ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों से राज्य-कर वसूलने वाले बन चुके थे, "बैंक आफ़ इंग्लैण्ड" का जन्म हो चुका था, इंग्लैण्ड में बाहर से आने वाले माल पर चुंगी लगाकर देशी उद्योगों की रक्षा करने की व्यवस्था बाक़ायदा जारी हो चुकी थी और यूरोप में एक निश्चित

शक्ति-सन्तुलन क़ायम हो चुका था। देखने में यह युग स्वाधीनता का युग था। पर वास्तव में, यह इजारेदारियों का युग था। एलिज़ाबेथ और चार्ल्स प्रथम के काल में ये एकाधिकारी कम्पनियाँ शाही आज्ञा-पत्र से बना करती थीं। अब पार्लामेण्ट ने उन्हें यह अधिकार दे दिया और उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया।" (मार्क्स, *ईस्ट इण्डिया कम्पनी, उसका इतिहास और परिणाम*, न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून, ११ जुलाई, १८५३)।

इस एकाधिकार के खिलाफ़ इंग्लैण्ड के मिल-मालिक बराबर आन्दोलन कर रहे थे। उन्होंने माँग की कि हिन्दुस्तान के बने हुये माल को इंग्लैण्ड में न घुसने दिया जाय और उनकी माँग मान ली गई। हिन्दुस्तान के व्यापार से बहुत बड़ी आमदनी होती थी और इंग्लैण्ड के जो अन्य व्यापारी इस लाभ से वंचित रह गये थे, वे भी कम्पनी के एकाधिकार के खिलाफ़ आवाज़ उठा रहे थे। इंडिया-बिल के मसले पर, इस संघर्ष का नतीजा १७८३ में फ़ाक्स-सरकार के पतन के रूप में देखने में आया। फ़ाक्स-सरकार कम्पनी के डायरेक्टरों और प्रोप्राइटरों के कोर्ट को खत्म करने की कोशिश में थी। बाद में इसी मसले को लेकर, हेस्टिंग्स पर १७८६ से १७९५ तक लम्बा मुक़दमा चला। लेकिन, १८१३ तक कम्पनी का एकाधिकार ज्यों का त्यों क़ायम रहा। १८१३ में, औद्योगिक क्रान्ति की सफलता ने इंग्लैण्ड के कारखानेदार पूँजीपति वर्ग को सामने ला खड़ा किया। तभी जाकर कम्पनी का एकाधिकार टूटा और १८३३ में इस एकाधिकार का अन्तिम रूप से खात्मा हुआ।

१८१३ के बाद ही हिन्दुस्तान का आर्थिक ढाँचा भी टूटा जब इंग्लैण्ड के औद्योगिक मिल-मालिकों ने इस पर धावा बोल दिया था। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हिन्दुस्तानी आर्थिक ढाँचे के इस विनाश का चित्र मार्क्स ने अकाट्य तथ्य देते हुये खींचा है। १७८० से १८५० तक के बीच, इंग्लैण्ड से हिन्दुस्तान को भेजे जाने वाले माल की तादाद में भारी बढ़ती हुई। १७८० में, इंग्लैण्ड से ३,८६,१५२ पौण्ड का माल

हिन्दुस्तान जाता था। १८५० तक, ८०,२४,००० पौण्ड का माल जाने लगा। यानी इंग्लैण्ड से जितना माल दूसरे देशों में भेजा जाता था, १७८० में उसका केवल वत्तीसवाँ भाग हिन्दुस्तान जाता था, जबकि १८५० में उसका आठवाँ भाग वहाँ जाने लगा था। १८५० में, ब्रिटेन के सूती उद्योग की पैदावार के लिये कुल बाजार का चौथाई हिस्सा हिन्दुस्तान का ही बाजार था और ब्रिटेन की आबादी का आठवाँ हिस्सा इस सूती-उद्योग से अपना जीविकोपार्जन करता था और इसी उद्योग से ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय का वारहवाँ हिस्सा भी आता था।

> "१८१८ और १८३६ के बीच, ब्रिटेन से हिन्दुस्तान आने वाले सूत का परिमाण ५,२०० गुना बढ़ गया। १८२४ में, मुश्किल से ६० लाख गज अंग्रेजी मलमल हिन्दुस्तान आती थी। १८३७ में, उसकी मात्रा ६४० लाख गज से भी अधिक पहुँच गई। परन्तु, इस बीच ढाका की आबादी डेढ़ लाख से घट कर बीस हजार रह गई। हिन्दुस्तान के जो शहर कपड़ा बनाने के लिये प्रसिद्ध थे, उनके ध्वंस पर भी बात खतम नहीं हुई। अंग्रेजी भाप और अंग्रेजी विज्ञान ने सारे हिन्दुस्तान में खेती और उद्योग-धन्धों के एके को तोड़ डाला।" (मार्क्स, *हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन*, न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून, १० जून, १८५३)।
>
> "इंग्लैण्ड की सूती कपड़े की मशीनों का हिन्दुस्तान पर गहरा प्रभाव पड़ा। १८३४-३५ में, गवर्नर-जनरल ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था: इस तरह की ग़रीबी व्यापार के इतिहास में पहले कभी नहीं देखी गई। हिन्दुस्तान के मैदानों में जुलाहों की हड्डियाँ बिछी पड़ी हैं।" (मार्क्स, *पूँजी*, खण्ड १, अध्याय १५, अंश ५)।

"खेती-बारी और उद्योग-धन्धों का घरेलू एका" ही वह बुनियाद थी जिस पर ग्राम-व्यवस्था टिकी हुई थी। "करघा और चर्खा पुराने भारतीय समाज की धुरी थे।" परन्तु, "अंग्रेज दखलन्दाज ने आकर हिन्दुस्तानी करघे को तोड़ डाला और चर्खे को नष्ट कर दिया।" ऐसा करके, अंग्रेजों

ने "एशिया की महानतम, और सच कहा जाय तो एकमात्र सामाजिक क्रान्ति कर डाली।" इस क्रान्ति ने न सिर्फ़ उद्योग-धन्धों के पुराने नगरों को नष्ट कर दिया और उनकी आबादी को गाँवों की तरफ़ खदेड़ दिया, बल्कि गाँवों के आर्थिक जीवन के सन्तुलन को नष्ट कर दिया। इससे खेती के लिये बुरी तरह छीना-झपटी होने लगी, जो आज दिन तक बढ़ती ही गई है। इसके साथ ही, किसानों से बड़ी निर्ममता के साथ अधिक से अधिक लगान वसूल किया जाने लगा, लेकिन बदले में खेती और सिंचाई वग़ैरा की बढ़ती के लिये कुछ भी नहीं किया गया। १८५०-५१ में राज्य की १,९३,००,००० पौंड की आमदनी से सिर्फ़ १,६६,३९० पौंड, यानी आमदनी का कुल ०·८ फ़ी सैकड़ा किसी भी तरह के सार्वजनिक कामों में खर्च किया गया। इस तरह, खेती का विकास रोक दिया गया।

> "यह लगान इतना बढ़ सकता है कि उससे काम करने के लिये आवश्यक परिस्थितियों और उत्पादन के साधनों का पुनरुत्पादन गम्भीर संकट में पड़ जाय। उसका नतीजा यह हो सकता है कि उत्पादन का विस्तार प्रायः असम्भव हो जाय और जो लोग उत्पादन करते हैं वे अपने रोटी-कपड़े का भी मुश्किल से इन्तज़ाम कर सकें। यह खतरा तब और भी बढ़ जाता है जब कोई बाहर की विजयी औद्योगिक जाति आकर इस तरह की व्यवस्था पर हावी हो जाती है और उसका उपयोग लूट और शोषण के लिये करने लगती है, जैसा कि अंग्रेज हिन्दुस्तान में कर रहे हैं।" (मार्क्स, पूँजी, खण्ड ३, अध्याय ४७, अंश ३)।

ब्रिटेन हिन्दुस्तान से कितना 'खिराज' लेता था, इसका अन्दाज मार्क्स ने यों लगाया है :

> "अकेले हिन्दुस्तान को 'अच्छे शासन-प्रबन्ध' और ब्रिटिश पूँजी के सूद और मुनाफ़े आदि के रूप में, हर साल ५० लाख पौंड देने पड़ते हैं। इसमें वह रक़म शामिल नहीं है जो अंग्रेज अफ़सर अपनी तनखाहों में से बचा कर घर भेजते हैं, न ही इसमें अंग्रेज सौदागरों

के मुनाफ़े का वह हिस्सा शामिल है जो वे फिर इंग्लैण्ड में लगाते हैं।" (मार्क्स, पूँजी, खण्ड ३, अध्याय ३५, अंश ४)।

क्या मार्क्स ने ग्राम-व्यवस्था के पतन और भारतीय समाज के पुराने आधार के नष्ट हो जाने पर आँसू बहाये हैं? मार्क्स ने देखा था कि हर देश की तरह हिन्दुस्तान में भी पूँजीवादी सामाजिक क्रान्ति से जनता को अपार कष्ट हुआ है और वह यह भी जानते थे कि हिन्दुस्तान में तो और भी भयानक कष्ट हुआ है क्योंकि यहाँ कुछ विशेष परिस्थितियों में यह क्रान्ति हुई है। परन्तु साथ ही, वह यह भी जानते थे कि यह ग्राम-व्यवस्था घोर प्रतिक्रियावादी थी और मानव-प्रगति के लिये उसका विनाश नितान्त आवश्यक था। उन्होंने बड़े जोरदार शब्दों में मानवता के उस पतन का चित्र खींचा है जो इन "बड़ी सुन्दर और निर्दोष दिखने वाली ग्रामीण बस्तियों" में होता था। हिन्दुस्तान में और यूरोप में जो लोग आगे की ओर देखने के बजाय बड़ी लालच भरी निगाहों से बीते हुए युग की ओर देखा करते हैं और जो लोग हिन्दुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत से लड़ने का तरीक़ा यह समझते हैं कि अंग्रेज़ों के पहले के चर्खे और करघे के पुराने हिन्दुस्तान को फिर से जिलाने की अपील की जाय, उनके लिये मार्क्स के शब्द आज भी ध्यान देने योग्य हैं:

> "इसमें सन्देह नहीं कि उन असंख्य, मेहनती, दादापंथी, निरीह सामाजिक संगठनों का इस तरह टूटना और बिखर जाना और दुःखों के समुद्र में डूबने-उतराने लगना तथा उनके व्यक्तिगत सदस्यों का अपनी प्राचीन सभ्यता के साथ-साथ जीविका कमाने के पुश्तैनी साधनों को भी खो बैठना—ये ऐसी घटनाएँ हैं, जिन्हें देखकर मनुष्य का हृदय शोक में डूब जाता है। परन्तु साथ ही, हमें यह भी न भूलना चाहिये कि ये ऊपर से बड़ी सुन्दर और निर्दोष दिखने वाली ग्रामीण बस्तियाँ ही सदा पूरब की तानाशाहियों के दृढ़ आधार का काम करती आई हैं। उन्होंने मनुष्य के मस्तिष्क को संकुचित से संकुचित सीमाओं

में पाँव रखा था, जिससे मनुष्य अन्धविश्वासों का निस्सहाय साधन और रूढ़ियों तथा पुराने रीति-रिवाजों का गुलाम बन गया था और उसका सम्पूर्ण गौरव तथा गरिमा नष्ट हो गई थी; उसकी ऐतिहासिक शक्तियाँ जाती रही थीं।

"हमें उस बर्बर अहमन्यता को भी न भूलना चाहिये जो अपना सारा ध्यान जमीन के एक छोटे से टुकड़े पर लगाये हुए, बड़े-बड़े साम्राज्यों को चुपचाप टूटते और मिटते देखती रही, जो अवर्णनीय अत्याचारों को बिना एक शब्द भी मुंह से निकाले सहन करती रही, जिसने बड़े-बड़े शहरों में कत्लेआम होते देखा और देखकर इस तरह मुंह फेर लिया जैसे कोई स्वाभाविक घटना हो रही हो, और जो स्वयं भी हर उस आक्रमणकारी का शिकार बनती रही जिसने उसकी ओर किंचित मात्र भी ध्यान दिया।

"हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि प्रतिष्ठा और गौरव से हीन, इस अप्रगतिशील और सर्वथा जड़ जीवन ने, इस निष्क्रिय अस्तित्व ने, दूसरी ओर अपने से बिलकुल भिन्न, विनाश की विवेकहीन, उद्देश्यहीन, और उच्छृंखल शक्तियों को जन्म दे रखा था और मनुष्य-हत्या को भी हिन्दुस्तान की एक धार्मिक प्रथा बना रखी थी।

"हमें यह भी न भूलना चाहिये कि इन छोटी-छोटी बस्तियों को जात-पाँत के भेद-भाव और दासता की प्रथा ने दूषित कर रखा था। उन्होंने मनुष्य को बाह्य परिस्थितियों का स्वामी बनाने के बजाय उनका दास बना दिया था; उन्होंने एक स्वयं अपना विकास करने वाली सामाजिक व्यवस्था को कभी न बदलने वाली प्राकृतिक नियति का रूप दे दिया था, और इस प्रकार एक ऐसी प्रकृति-पूजा को जन्म दिया था कि मनुष्य अपनी मनुष्यता खोता जा रहा था और प्रकृति का स्वामी इन्सान, वानर हनुमान और गऊ शबला[1] के सामने घुटने टेकता था।" (मार्क्स, *हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन*)।

---

१. शबला—कामधेनु का दूसरा नाम। —सं०

एंगेल्स के नाम १४ जून १८५३ के अपने पत्र में, मार्क्स ने यद्यपि हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति को "सुअरपन" कहा है, परन्तु इसके साथ ही, उनकी राय यह भी थी कि अंग्रेज़ों की जीत "अनजाने ही बड़े ऐतिहासिक परिवर्तनों का कारण" बन गई है। मार्क्स के शब्दों में :

"यह सच है कि इंग्लैण्ड ने हिन्दुस्तान में सामाजिक क्रान्ति निकृष्टतम उद्देश्यों से प्रेरित होकर की थी और बड़े मूर्खतापूर्ण ढंग की ज़ोर-ज़बरदस्ती करके काम किया था। परन्तु, प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या एशिया की सामाजिक अवस्था में बिना एक बुनियादी क्रान्ति के मानव जाति अपने लक्ष्य तक पहुँच सकती थी? यदि नहीं, तो मानना पड़ेगा कि इंग्लैण्ड ने चाहे जितने पाप किये हों, इस क्रान्ति को लाने में उसने इतिहास के एक अचेतन साधन का काम अवश्य किया है।" (उपर्युक्त)।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन की "पुनर्रचनात्मक" भूमिका

मार्क्स की राय में, इंग्लैण्ड को "हिन्दुस्तान में दो महान् कार्य करने थे : एक ध्वंसात्मक काम था, दूसरा रचनात्मक। पुराने एशियाई समाज को नष्ट करना था और एशिया में पश्चिमी समाज के लिये भौतिक आधार तैयार करना था।" अभी तक ज़्यादातर ध्वंस का काम ही सामने आया था; फिर भी पुनर्रचना का काम शुरू हो चुका था। मार्क्स ने लिखा है :

"अंग्रेज़ पहले विजेता थे जिनकी सभ्यता हिन्दुस्तानियों से ऊँची थी, और इसलिये जिन तक हिन्दुस्तानी सभ्यता की पहुँच न थी। अंग्रेज़ों ने देशी बस्तियों को उजाड़ कर, देशी उद्योग-धन्धों का नाश करके और देशी समाज के प्रत्येक महान् और गौरवपूर्ण तत्त्व को धूल में मिला कर हिन्दुस्तानी सभ्यता को नष्ट कर दिया। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश

शासन के इतिहास में ध्वंस और विनाश के सिवा और शायद ही कुछ मिले। ध्वंस के खंडहरों के बीच पुनर्रचना के कार्य का लगभग कोई चिह्न नहीं दिखाई देता। फिर भी यह काम शुरू हो चुका है।" (मार्क्स, *हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के भावी परिणाम*, न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून, ८ अगस्त, १८५३)।

मार्क्स को इस "पुनर्रचना" की शुरूआत किन बातों में दिखाई दी थी? उन्होंने इसके कई चिह्न बताये हैं :

(१) "राजनीतिक एकता·······मुग़ल बादशाहों के शासन में स्थापित एकता से कहीं अधिक मज़बूत और व्यापक एकता", जिसे "बिजली का तार·······मज़बूत करेगा" और "स्थायित्व प्रदान करेगा।"

(२) "देशी हिन्दुस्तानी सेना" (१८५७ के विद्रोह के पहले मार्क्स ने यह लिखा था। १८५७ के बाद यह फ़ौज तोड़ दी गई और अंग्रेजी फ़ौजों की संख्या जान-बूझकर बढ़ा दी गई। उनकी संख्या एक-तिहाई हो गई और सब फ़ौजों पर अंग्रेज़ों का कड़ा नियन्त्रण कायम हो गया);

(३) "एशियाई समाज में पहली बार स्वतन्त्र अख़बार और छापेखाने क़ायम हुये" (मार्क्स ने यह बात १८३५ की उस घोषणा के बाद लिखी थी जिसमें अख़बारों और छापेखानों की स्वतन्त्रता का ऐलान किया गया था। परन्तु बाद को, १८७३ से, ब्रिटिश सरकार प्रेस सम्बन्धी कई क़ानून बनाती गई और जैसे-जैसे साम्राज्यवादी हुकूमत के पाये हिलने लगे, वैसे-वैसे यह नियन्त्रण भी बढ़ता गया)।

(४) "एशियाई समाज में जिस चीज़ की सबसे अधिक कमी थी— वह व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति" चालू हो गई।

(५) अंग्रेज़ों ने चाहे जितनी कम संख्या में और चाहे जितना मन मसोस कर क्यों न हो, एक शिक्षित वर्ग उत्पन्न किया "जिसे सरकार चलाने के लिये आवश्यक ज्ञान और यूरोपीय विज्ञान की जानकारी प्राप्त थी।"

(६) भाप से चलने वाले जहाज़ों ने "हिन्दुस्तान का यूरोप से शीघ्र और नियमित सम्पर्क स्थापित कर दिया।"

इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण था औद्योगिक पूँजीवाद द्वारा भारत के शोषण का अनिवार्य परिणाम। हिन्दुस्तान के बाज़ार को विकसित करने के लिये यह जरूरी था कि "हिन्दुस्तान को एक उत्पादन करने वाले देश में बदला जाय"—यानी, विदेश से आने वाले तैयार माल के बदले में बाहर भेजे जाने वाले कच्चे माल का स्रोत बनाया जा सके। इसके लिये आवश्यक था कि रेलों, सड़कों और नहरों का विकास हो। जिस समय मार्क्स ने यह लिखा था, उस समय यह नया दौर शुरू ही हो रहा था। इस नवीन विकास के परिणामों को ध्यान में रख कर ही, मार्क्स ने वह भविष्यवाणी की थी जो भारत सम्बन्धी उनकी घोषणाओं में सबसे प्रसिद्ध है। उन्होंने कहा था :

"मैं जानता हूँ कि अंग्रेज कारखानेदार केवल इस उद्देश्य को सामने रख कर हिन्दुस्तान में रेलें बनवा रहे हैं कि उनके द्वारा कम खर्च में अधिक कपास और दूसरा कच्चा माल अपने उद्योग-धन्धों के लिये निकाल सकें। परन्तु, यदि एक बार किसी देश के आवाजाही के साधनों में मशीनों का इस्तेमाल होने लगता है, और यदि उस देश में कोयला और लोहा भी मिलते हैं तो फिर उस मुल्क को मशीनें बनाने से नहीं रोका जा सकता। यह नहीं हो सकता कि आप एक विशाल देश में रेलों का जाल बिछाये रहें और उन औद्योगिक प्रक्रियाओं को वहाँ आरम्भ न होने दें जो रेल-यातायात की तात्कालिक और रोजमर्रा की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जरूरी हैं। और, इन औद्यौगिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप यह भी अवश्यम्भावी है कि उद्योग की जिन शाखाओं का रेलों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, उनमें भी मशीनों का उपयोग होने लगे। इस प्रकार, रेल-व्यवस्था से हिन्दुस्तान में आधुनिक उद्योगों की नींव पड़ गई है।......रेल-व्यवस्था से उत्पन्न होने वाले, आधुनिक उद्योग-धन्धे उस पुश्तैनी श्रम-विभाजन को भंग कर देंगे, जिस पर हिन्दुस्तान की तरक्की और

मा०—२

उसकी ताक़त के बढ़ने के रास्ते की सबसे बड़ी रुकावट, हिन्दुस्तान की वर्ण-व्यवस्था टिकी हुई है।" (मार्क्स, *हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के भावी परिणाम*)।

तो क्या इसका यह मतलब है कि मार्क्स की दृष्टि में साम्राज्यवाद हिन्दुस्तान में एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में काम कर रहा था? क्या उनकी दृष्टि में, साम्राज्यवाद में हिन्दुस्तान की जनता को आजाद करने और सामाजिक प्रगति के मार्ग पर ले जाने की शक्ति थी? नहीं; मार्क्स का मतलब इससे बिलकुल उल्टा था। मार्क्स ने जब हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूँजीवादी शासन के हाथों "पुनर्रचना" के काम की बात कही थी तो, उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि उनका संकेत केवल इस ओर था कि ब्रिटिश शासन ने वे भौतिक परिस्थितियाँ तैयार कर दी हैं जो नवीन प्रगति के लिये आवश्यक थीं। परन्तु, यह नवीन प्रगति स्वयं भारतीय जनता ही कर सकती थी और वह भी इस शर्त पर कि या तो स्वयं सफल क्रान्ति करके या ब्रिटेन में औद्योगिक मजदूर वर्ग की विजय के परिणामस्वरूप—जो भारत की जनता को भी आजाद करेगी—वह इस साम्राज्यवादी शासन से मुक्त हो जाय। जब तक यह नहीं होता, तब तक हिन्दुस्तान में साम्राज्यवाद द्वारा पैदा की गई भौतिक परिस्थितियों से भी भारतीय जनता का कुछ उपकार नहीं हो सकता, न उसकी हालत में ही कोई सुधार हो सकता है। मार्क्स ने लिखा है:

"अंग्रेज पूँजीपति वर्ग मजबूर होकर चाहे जो कुछ करे, उससे हिन्दुस्तान की आम जनता को न तो आजादी मिलेगी और न उसकी सामाजिक हालत में कोई खास सुधार होगा, क्योंकि यह तो तभी हो सकता है जब न केवल उत्पादक शक्ति का विकास हो, बल्कि उस पर जनता का स्वामित्व भी क़ायम हो जाय। लेकिन, एक काम है जिसको पूरा किये बिना अंग्रेज पूँजीपति नहीं रह सकते, वह यह कि इन दोनों के लिये भौतिक आधार तैयार कर जायें। और, पूँजीपति वर्ग ने क्या कभी इससे अधिक कुछ किया है? कभी भी क्या उसने व्यक्तियों

और जनता को रक्त और कीचड़, दुःख और पतन के गर्त में धकेले बिना कोई प्रगति की है ?

"अंग्रेज पूँजीपति वर्ग ने हिन्दुस्तानियों के बीच नये समाज के जो बीज बिखेरे हैं, उनके फल हिन्दुस्तानी तब तक नहीं चख सकेंगे जब तक या तो स्वयं ब्रिटेन में वर्तमान शासक वर्गों का स्थान औद्योगिक मजदूर वर्ग न ले लेगा, या हिन्दुस्तानी खुद इतने शक्तिशाली न हो जायेंगे कि अंग्रेजों की गुलामी के जुएँ को एकदम उतार फेंकें।" (उपर्युक्त)।

इसके साथ, एंगेल्स का वह बयान मिलाना चाहिये जिसमें उन्होंने भारतीय क्रान्ति की सम्भावनाओं का जिक्र किया है और १८८२ में पराधीन औपनिवेशिक क़ौमों के आजाद होने की आवश्यकता बताई है। उन्होंने लिखा था :

"मेरी राय में जो देश सचमुच उपनिवेश हैं, यानी जिनमें यूरोपियन आबादी का क़ब्जा है—जैसे कनाडा, केप (दक्षिणी अफ्रीका), आस्ट्रेलिया, वे सब आजाद हो जायेंगे। दूसरी ओर, जिन देशों में वहाँ के देशी लोग रहते हैं, पर जिन्हें गुलाम बना लिया गया है—जैसे हिन्दुस्तान, अल्जीरिया और डचों, पुर्तगालियों तथा स्पेन वालों के आधीन देश—उन्हें फ़िलहाल मजदूर वर्ग को अपने हाथ में ले लेना चाहिये और जल्द से जल्द स्वतन्त्रता की ओर ले जाना चाहिये।

"यह सम्भव है, और शायद हो भी यही, कि हिन्दुस्तान में एक क्रान्ति हो। मजदूर वर्ग, जो स्वयं अपने को मुक्त करता है, उपनिवेशों की लड़ाइयाँ नहीं लड़ सकता। इसलिये, उसे हिन्दुस्तान की क्रान्ति के प्रसार में मदद करनी होगी। अनेक तरह का विनाश किये बिना यह क्रान्ति पूरी न होगी, लेकिन इस तरह की बातें सभी क्रान्तियों में अवश्यम्भावी होती हैं। इसी तरह की बात दूसरी जगहों में भी हो सकती है—जैसे अल्जीरिया और मिस्र में—और हम लोगों

के लिए भी यही सबसे अच्छी बात होगी।" (एंगेल्स, कॉट्स्की को पत्र, १२ सितम्बर, १८८२)।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारत की परिस्थिति का मार्क्स ने जो विश्लेषण किया है उसमें तीन बातें मुख्य हैं। पहली यह कि भारत में ब्रिटिश शासन ने एक ध्वंसात्मक भूमिका अदा की है और पुराने समाज को जड़ से उखाड़ डाला है। दूसरी यह है कि स्वतन्त्र व्यापार वाले पूँजीवाद के युग में, भारत में ब्रिटिश शासन की एक पुनर्रचनात्मक भूमिका भी रही है और उसने भविष्य के नये समाज के लिये आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ तैयार कर दी हैं। तीसरे, उन्होंने इन दो बातों से यह अमली नतीजा निकाला कि नया समाज बनाने के लिये एक राजनीतिक परिवर्तन आवश्यक है, जिसके द्वारा भारतीय जनता साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति प्राप्त करे।

आज साम्राज्यवादी शासन दुनिया में दूसरी जगहों की तरह हिन्दुस्तान में अपनी अचेतन प्रगतिशील भूमिका या पुनर्रचना का काम कभी का खतम कर चुका है। यह काम उसने तब किया था जब पूँजीवाद में स्वतन्त्र व्यापार का बोलबाला था। अब तो साम्राज्यवादी शासन हिन्दुस्तान में सबसे शक्तिशाली प्रतिक्रियावादी ताक़त बन गया है और भारत में सभी तरह की प्रतिक्रियावादी ताक़तों का समर्थन कर रहा है। इस तरह, अब वह मंज़िल आ गई है जब मार्क्स के बताये हुए राजनीतिक परिवर्तन का काम वक्त का तकाज़ा बन गया है।

हिन्दुस्तान में साम्राज्यवादी शासन का परिणाम

जब मार्क्स ने यह कहा था कि ब्रिटिश शासन ने भारत में "एक सामाजिक क्रान्ति की थी" और इंग्लैण्ड ने......"इस क्रान्ति को लाने में......इतिहास के एक अचेतन साधन का काम......किया", तब उन्होंने अपनी व्याख्या में यह स्पष्ट कर दिया था कि उनका मतलब दो बातों से था।

पहली बात यह है कि पुरानी सामाजिक व्यवस्था का विनाश हो जायगा।

दूसरी यह है कि नई सामाजिक व्यवस्था का भौतिक आधार तैयार हो जायगा।

ये दोनों प्रक्रियाएँ आज भी जारी हैं, हालाँकि आधुनिक साम्राज्यवाद की नई अवस्था की विशेषताओं के सामने उनका महत्त्व कम रह गया है। ये विशेषताएँ पुरानी प्रक्रिया से ही उत्पन्न हुई हैं।

पुरानी दस्तकारियों का विनाश आज इस रूप में प्रकट हो रहा है कि उद्योग-धन्धों में काम करने वाले मजदूरों की कुल संख्या बराबर कम होती जा रही है, क्योंकि आज उसके मुक़ाबिले में आधुनिक उद्योग-धन्धे बहुत धीरे-धीरे बढ़ रहे हैं और दोनों का सन्तुलन नहीं हो पाता है। पुरानी ग्राम-व्यवस्था का नाश होने से अब ऐसी विषमताएँ पैदा हो गई हैं कि खेती में एक महान् ग्राम संकट पैदा हो रहा है।

इसके साथ ही, ब्रिटिश शासन ने जो भौतिक आधार तैयार किया, उस पर, मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुसार, आधुनिक उद्योग-धन्धों का एक सिलसिला भी शुरू हो गया है, हालाँकि उसकी रफ़्तार बहुत धीमी है। और, इससे भारतीय समाज में एक नया वर्ग पैदा हो गया है, जो मशीनों से चलने वाले आधुनिक उद्योग-धन्धों में पगार लेकर मजदूरी करता है। यह औद्योगिक मजदूर वर्ग ही वह रचनात्मक शक्ति है जो भावी भारत की नई समाज-व्यवस्था का निर्माण करेगी।

परन्तु, इस प्रक्रिया के आगे बढ़ते रहने के फलस्वरूप आज एक नई परिस्थिति पैदा हो गई है और उससे ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं जो मार्क्स के समय में नहीं थीं। आज हिन्दुस्तान में इस बात के लिये परि-स्थिति पूरी तरह तैयार हो गई है कि उत्पादक शक्तियों का बड़े पैमाने पर विकास हो और वे आधुनिक स्तर पर पहुँच जायें। और, हर साल इस प्रगति की आवश्यकता और भी तीव्र और अनिवार्य होती जाती है। दूसरी ओर, आधुनिक साम्राज्यवाद अब भारत में पुराने पूँजीवादी आधिपत्य की

परिस्थितिगत क्रान्तिकारी भूमिका अदा नहीं कर पाता। पुराने पूँजीवादी आधिपत्य ने अपने विनाशकारी कार्यों के द्वारा नई प्रगति के लिये रास्ता साफ़ किया था और उसके लिये आवश्यक भौतिक परिस्थितियों की नींव डाली थी। परन्तु उसके विपरीत, आधुनिक साम्राज्यवाद भारत में उत्पादक शक्तियों के विकास में सबसे बड़ी बाधा बना हुआ है और अपने आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभुत्त्व से फ़ायदा उठा कर हर मुमकिन तरकीब से इस विकास को रोक रहा है। अब भारत में पूँजीवादी शासन की परिस्थितिगत क्रान्तिकारी भूमिका की बात कर सकना सम्भव नहीं है। भारत में आधुनिक साम्राज्यवाद की भूमिका पूरी तरह प्रतिक्रियावादी है।

पुराने प्रगतिशील पूँजीवाद ने उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दुस्तान के पुराने समाज के ढाँचे पर प्रहार किया और कभी-कभी तो जान-बूझकर कुछ प्रतिक्रियावादी, धार्मिक एवं सामाजिक रीति-रिवाजों पर हल्ला बोला उसने एक के बाद दूसरे देशी राजा का राज्य छीन कर अपने साम्राज्य में मिलाया, पश्चिमी ढंग की शिक्षा और पश्चिमी विचारों को फैलाने की शुरूआत की और कुछ समय के लिये तो अखबारों की आजादी का सिद्धान्त भी लागू कर दिया। इस काल में, हिन्दुस्तानी समाज के प्रगतिशील तत्त्वों ने, अर्थात् उठते हुए मध्यम वर्ग ने, ब्रिटिश शासन का समर्थन किया और उसके प्रयत्नों में सहायता देने की कोशिश की। राजा राममोहन राय इसी वर्ग के प्रतिनिधि थे। इसके विपरीत, पतनोन्मुख प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने, असन्तुष्ट देशी राजाओं और सामन्ती शक्तियों ने, इन प्रयत्नों का विरोध किया। इन तत्त्वों का नेतृत्त्व १८५७ के विद्रोह में अपने चरम विकास को पहुँचा और तभी खतम भी हो गया। उस समय कोई भी ऐसी शक्ति नहीं थी जो शोषित और पीड़ित किसानों की तरफ़ से आवाज बुलन्द करती और उनका नेतृत्त्व करती। इसलिये, सन् सत्तावन के विद्रोह का असफल होना अवश्यम्भावी था।

१८५७ के विद्रोह के बाद, भारत में ब्रिटिश राज्य अपनी नीति बदलने लगा। भारत में आधुनिक साम्राज्यवाद देशी राजाओं को अपनी कठपुत-

लियाँ बना कर रखता है और उनकी रक्षा करता है और दिन प्रति दिन उनके राजनीतिक महत्त्व को बढ़ाने की कोशिश करता है। नया विधान इसकी सबसे ताज़ा मिसाल है। ब्रिटिश शासन अब प्रतिक्रियावादी सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों को बड़ी कोशिश से क़ायम रखता है और यदि प्रगतिशील भारतीय उनमें सुधार करने की माँग करते हैं तो वह उनका विरोध करता है (जैसे बाल-विवाह को रोकने और अछूतोद्धार के बारे में)। उसने भाषण और विचारों की स्वाधीनता को कुचलने के लिये दमन का चक्रव्यूह रच रखा है। हिन्दुस्तान के लोग चाहते हैं कि वे शिक्षा, समाज और उद्योग-धन्धों में उन्नति करें, लेकिन साम्राज्यवाद कोने-कोने से उठने वाली इस माँग को दबा कर रखता है। इन सभी बातों से प्रकट होता है कि जैसे आर्थिक क्षेत्र में, वैसे ही सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में, साम्राज्यवाद भारत में प्रतिक्रियावाद का सबसे बड़ा समर्थक और पोषक बना हुआ है।

इसलिये आधुनिक काल में, एक तरफ़ तो भारतीय समाज की सभी प्रगतिशील ताक़तें अपने सबसे बड़े दुश्मन, प्रतिक्रियावाद के गढ़, साम्राज्य-वाद के खिलाफ़ एक दिन-दिन शक्तिशाली बनते हुये राष्ट्रीय आन्दोलन में एकजुट हो रही हैं। और दूसरी तरफ़, ये प्रतिक्रियावादी पतनोन्मुखी ताक़तें ही साम्राज्यवाद की वफ़ादार समर्थक रह गई हैं, पर उनकी जड़ें खोखली हो गई हैं।

साम्राज्यवाद एक निकम्मी आर्थिक व्यवस्था को जनता पर लादे हुए है। भारत की बढ़ती हुई उत्पादक शक्तियाँ इस व्यवस्था के और साम्राज्य-वाद के बन्धनों को तोड़ कर फेंक देना चाहती हैं। यह संघर्ष खेती के संकट में प्रकट होता है, जो साम्राज्यवादी अर्थ-व्यवस्था के दिवालियेपन को ज़ाहिर करता है और जो एक बुनियादी परिवर्तन की मुख्य प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रहा है। ज़ारशाही के अन्तिम वर्षों में रूस में, या अठारहवीं सदी के अन्त के दिनों में फ्रांस में जिस प्रकार आने वाली किसान-क्रान्ति का पूर्वाभास मिलने लगा था, उसी प्रकार अब हिन्दुस्तान में भी आने वाली

किसान-क्रान्ति के चिह्न दिखाई देने लगे हैं। हिन्दुस्तान में यह बढ़ती हुई किसान-क्रान्ति साम्राज्यवादी शासन के खिलाफ़ चलने वाले राष्ट्रीय जनवादी स्वातन्त्र्य आन्दोलन से जुड़ गई है; और इन दोनों की एकता ही भारतीय इतिहास के उस नये युग की कुंजी है जो अब आरम्भ हो रहा है।

लन्दन, १९४०।

भारत में ब्रिटिश शासन[1]

लन्दन, शुक्रवार, १० जून, १८५३।

वियना से तार द्वारा प्राप्त समाचारों से मालूम होता है कि तुर्की, सार्डीनिया और स्विट्ज़रलैण्ड की समस्याओं का शान्तिमय ढंग से हल हो जाना वहाँ निश्चित समझा जाता है।

---

१. **न्यू यॉर्क डेली ट्रिब्यून**, २५ जून, १८५३। मार्क्स और एंगेल्स ने पूरब के सवाल का अध्ययन १८५३ में शुरू किया था। इसी काल में, हम उन्हें अपने पत्रों में पूरब के देशों के ऐतिहासिक विकास की विशेषताओं की चर्चा करते हुए भी पाते हैं। ग्राम-पंचायत की भूमिका, सिंचाई की मानव-निर्मित व्यवस्था का महत्त्व, भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की उत्पत्ति की विशेषताओं का प्रश्न, पूरब की तानाशाहियों का आधार, सबसे बड़े औपनिवेशिक एवं अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों के विकास पर औपनिवेशिक नीति का प्रभाव, आदि—इन सभी प्रश्नों की मार्क्स और एंगेल्स के पत्र-व्यवहार में चर्चा हुई है। पत्रों के द्वारा जिन विचारों का विकास हुआ, उनका सार मार्क्स ने भारत और चीन सम्बन्धी अपनी लेख-मालाओं में विस्तार के साथ रख दिया है। इस काल में, चीन में ताइपिंग विद्रोह हो रहा था। भारत में सिपाही-विद्रोह की तैयारियाँ हो रही थीं और वह १८५७ में शुरू भी हो गया। इसलिये, पूरब की समस्याओं का अध्ययन मार्क्स केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से नहीं कर रहे थे, बल्कि क्रान्तिकारी संघर्ष की आवश्यकताओं ने इन समस्याओं का अध्ययन जरूरी बना दिया था। १८४७ में जो आर्थिक संकट फूटा, उसने पूँजीवाद के विकास के लिये तथा पूँजीवादी देशों के औद्योगिक क्रम के लिये भारत और चीन के भारी महत्त्व को स्पष्ट कर दिया था।

अतः सैद्धान्तिक खोज तथा क्रान्तिकारी संघर्ष की अमली ज़रूरत, दोनों ही बातों ने मार्क्स का ध्यान भारत की ओर खींचा।

मार्क्स के भारत सम्बन्धी लेखों का महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है। पिछली

कल रात, कामन्स सभा में हिन्दुस्तान पर बहस सदा की भाँति नीरस ढंग से जारी रही। मिस्टर ब्लैकेट ने आरोप लगाया कि सर चार्ल्स वुड और सर जे० हौग के वक्तव्यों में झूठी आशावादिता की झलक दिखाई देती है। मन्त्रिमण्डल तथा डायरेक्टरों के कई समर्थकों ने, जितना उनसे बन पड़ा, इस आरोप का खण्डन किया और फिर मिस्टर ह्यूम ने, जो कभी नहीं चूकते, मन्त्रियों से अपना बिल वापस लेने का अनुरोध करके बहस का सारांश निकाल कर रख दिया। बहस स्थगित हो गयी।

हिन्दुस्तान एशिया का इटली है। एशिया के आकार के अनुसार, उसका आकार इटली से बहुत बड़ा है; आल्प्स पर्वत की जगह हम वहाँ हिमालय पाते हैं, लोम्बार्डी के मैदान की जगह बंगाल का मैदान है, एपीनाइन के स्थान पर दकन है और सिसली के द्वीप की जगह लंका का

शताब्दी के अन्तिम दशक में ही, बर्नस्टीन के नेतृत्व में ऐसे संशोधनवादी पैदा हो गये थे जो कहते थे कि साम्राज्यवादी देश अपनी औपनिवेशिक नीति के द्वारा गुलाम देशों को सभ्य बना रहे हैं, और बाद में तो वे यह तक कहने लगे थे कि उपनिवेशों में साम्राज्यवाद की भूमिका प्रगतिशील है। अपने इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन उन्होंने दूसरी इण्टरनेशनल के पेरिस, एमस्टर्डम और स्टटगार्ट अधिवेशनों में किया। युद्ध के बाद के काल में, १९२८ के ब्रूसेल्स अधिवेशन में दूसरी इण्टरनेशनल ने इस मार्क्स-वाद-विरोधी सिद्धान्त को अपने कार्यक्रम में शामिल कर लिया। कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की छठी कांग्रेस में अवसरवादियों ने जिस 'अनुपनिवेशीकरण' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, उसका असली आधार भी यही सिद्धान्त था। 'अनुपनिवेशीकरण' के सिद्धान्त के अनुसार, साम्राज्यवादी शक्तियाँ उपनिवेशों के विकास और औद्योगीकरण में मदद देती हैं।

मार्क्स के भारत सम्बन्धी लेखों में इन सवालों का हमें ऐसा जवाब मिलता है जो आज तक असत्य नहीं हुआ है। इन लेखों से साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक नीति की वास्तविक भूमिका स्पष्ट होती है और 'अनुपनिवेशीकरण' के सिद्धान्त और नरोदनिकों (लोकवादियों) के सिद्धान्त, दोनों का खण्डन होता है। इन लेखों में हमें भारत में ब्रिटिश शासन की भूमिका का मूल्यांकन मिलता है, जिससे इंग्लैण्ड और भारत में क्रान्ति की सम्भावनाएँ खुलती हैं।

द्वीप है। यहाँ भी इटली की ही भाँति, भूमि से विविध प्रकार की उपज मिलती है, और राजनीतिक व्यवस्था की दृष्टि से देश तरह-तरह के अनेक भागों में बँटा हुआ है। जिस प्रकार, इटली को समय-समय पर आक्रमणकारी की तलवार विभिन्न प्रकार के जातीय समूहों में बाँटती रही है, उसी प्रकार हम पाते हैं कि हिन्दुस्तान पर जब मुसलमानों, मुग़लों या अंग्रेजों का दबाव नहीं होता तो, उसमें जितने शहर या यहाँ तक कि जितने गाँव होते हैं वह उतने ही स्वतन्त्र और विरोधी राज्यों में बँट जाता है। परन्तु, सामाजिक दृष्टिकोण से देखें तो कहना पड़ेगा कि हिन्दुस्तान पूरब का इटली नहीं, आयरलैण्ड है। और, इटली तथा आयरलैण्ड के इस विचित्र सम्मिश्रण का, विलास के संसार तथा पीड़ा के संसार के इस अनोखे सम्मिश्रण का पूर्वाभास हमें हिन्दुस्तानी धर्म की प्राचीन परम्पराओं में मिल जाता है। वह धर्म एक ही साथ विपुल वासनाओं का और अपने को यातनाएँ देने वाले साधु-मुनियों का धर्म है; उसमें लिंगम्[1] भी है और नर-नारियों को रौंदता जाने वाला जगन्नाथ का रथ भी है। योगी और भोगी दोनों ही हमें उस धर्म में मिलते हैं।

मैं उन लोगों की राय से सहमत नहीं हूँ जो हिन्दुस्तान के किसी स्वर्ण-युग में विश्वास करते हैं; परन्तु सर चार्ल्स वुड की भाँति अपने मत की पुष्टि के लिए मैं कुली खाँ की दुहाई देना भी पसन्द नहीं करता। लेकिन उदाहरण के लिए, औरंगजेब[2] का काल लीजिये, या वह काल जब उत्तर में मुग़ल और दक्षिण में पुर्तगाली पहले-पहल प्रकट हुए थे; या मुस्लिम

---

१. **लिंगम सम्प्रदाय**—शिव के उपासकों का सम्प्रदाय, जिसका दक्षिणी भारत में बहुत प्रचार है। इस सम्प्रदाय को लिंगायत कहते हैं और इसके अनुयाइयों की संख्या लगभग दस लाख है। वे अपने शरीर को यातनायें देना मोक्ष का साधन बताते हैं।

२. हिन्दुस्तान का अन्तिम मुगल सम्राट्। १७०७ में उसकी मृत्यु हुई। औरंगज़ेब की मृत्य के बाद ही मुगल साम्राज्य (१५२६-१७०७) का केन्द्रीय सत्ता के रूप में पतन आरम्भ हो गया।

आक्रमण और दक्षिण भारत के सप्तराज्यों[1] का काल लीजिए, अथवा और भी पीछे जाना चाहें तो ब्राह्मणों के पुराणों में लिखे हुए इतिहास को लीजिए, जिसके अनुसार हिन्दुस्तानियों की दुःख-गाथा का आरम्भ उस काल के भी बहुत पहले होता है जब ईसाइयों के विश्वास के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति हुई थी।

परन्तु, इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान पर जो मुसीबत ढाई है वह, हिन्दुस्तान ने इसके पहले जितनी मुसीबतें उठाई थीं, उनसे बुनियादी तौर पर भिन्न और अधिक गहरी है। मेरा संकेत यूरोप की निरंकुश तानाशाही की ओर नहीं है, जिसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने हिन्दुस्तान पर लाद दिया है और एशिया की अपनी तानाशाही के साथ जिसके मेल से एक ऐसा भयानक दैत्य पैदा हुआ है कि उसके सामने सालसेट[2] के मन्दिर की भयानक देव मूर्तियाँ भी फीकी पड़ जाती हैं।

यह कोई ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था की विशेषता नहीं है; बल्कि अंग्रेजों ने तो डचों की नक़ल भर की है। यहाँ तक कि यदि हम ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तौर-तरीक़ों का वर्णन करना चाहें तो जावा के अंग्रेज गवर्नर, सर स्टैनफ़ोर्ड रैफ़ल्स के उस वक्तव्य को शब्दशः दुहरा देना पर्याप्त होगा जो उन्होंने पुरानी डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बारे में दिया था:

"डच कम्पनी का केवल एक उद्देश्य था; और वह था—मुनाफ़ा कमाना। पश्चिमी द्वीप-समूह के बागानों का गोरा मालिक अपनी

---

1. **सप्तराज्य**: प्रारम्भिक सामन्तवाद (छठी से नवीं सदी तक) के काल में भारत राजनीतिक दृष्टि से कई टुकड़ों में बँट गया था। इस अवस्था को आम तौर पर सप्तराज्य कहते थे। यहाँ मार्क्स का इशारा राजनीतिक रूप से भारत के छिन्न-भिन्न होने से है।

२. **सालसेट** का मन्दिर: बम्बई प्रेजीडेंसी के सालसेट द्वीप का एक मन्दिर। यह मन्दिर एक गुफ़ा के भीतर है। मन्दिर चट्टानों को काट कर बनाया गया है और इसकी दीवारों पर लगभग ५,००० मूर्तियाँ बनी हैं जो, मन्दिर की ही भाँति, पत्थरों को तराश कर बनाई गई हैं।

भूमि पर काम करने वाले गुलामों के दल का जितना खयाल या जितनी परवाह करता था, डच कम्पनी अपनी प्रजा की उससे कहीं कम परवाह करती थी; क्योंकि बागान के मालिक ने तो तब भी पैसे खर्च करके गुलामों को खरीदा था परन्तु कम्पनी को तो ये गुलाम मुफ्त ही मिल गये थे। अतएव, कम्पनी तो दमन और शोषण के अपने सारे यंत्रों का उपयोग जनता से उसकी आखिरी कौड़ी तक और उसकी श्रम-शक्ति की अन्तिम बूँद तक चूस लेने के लिए करती थी। और इस प्रकार वह एक स्वेच्छाचारी तथा अर्द्ध-बर्बर सरकार को मंजे हुए राजनीतिज्ञों के सम्पूर्ण कौशल तथा व्यापारियों की सब कुछ हड़प लेने वाली सर्वभक्षी स्वार्थ लिप्सा के साथ चला कर, उसके दुर्गुणों को पराकाष्ठा पर पहुँचा देती थी।"

हिन्दुस्तान में अनेक गृह-युद्ध छिड़े हैं, विदेशी आक्रमण हुए हैं, क्रान्तियाँ हुई हैं, देश-विदेशियों द्वारा बार-बार जीता गया है, अकाल पड़े हैं; परन्तु, ये घटनाएँ ऊपर से देखने में अनोखी उलझनों से भरी, जल्दी-जल्दी होने वाली और कितनी ही सत्यानाशी क्यों न मालूम पड़ती हों, वे हिन्दुस्तान की केवल ऊपरी सतह को छूती थीं और उनका असर उससे गहरे नहीं जाता था। लेकिन, इंग्लैण्ड ने तो भारतीय समाज के पूरे ढाँचे को तोड़ डाला है और उसके पुनर्निर्माण के अभी तक कोई चिह्न नहीं दिखाई दे रहे हैं। पुरानी दुनिया का इस तरह बिछुड़ जाना और नई दुनिया का कहीं पता न लगना—इससे हिन्दुस्तानियों के वर्तमान दुःखों पर एक विशेष प्रकार की उदासी की परत चढ़ जाती है और ब्रिटेन के शासन के नीचे हिन्दुस्तान अपनी सारी प्राचीन परम्पराओं और अपने सम्पूर्ण पुराने इतिहास से कट जाता है।

युगों-युगों से एशिया में सरकार के आम तौर पर केवल तीन विभाग होते आये हैं—एक अर्थ-विभाग, जो देश के अन्दर लूट का साधन होता है; दूसरा युद्ध-विभाग, जो विदेशों को लूटने का काम करता है; और तीसरा सार्वजनिक निर्माण का विभाग। जलवायु एवं भौगोलिक परिस्थितियों के

कारण—विशेषकर इस वजह से कि सहारा से लेकर, और अरब, ईरान, हिन्दुस्तान तथा तातारी होते हुए, एशिया के सबसे ऊँचे पठारों तक लम्बा रेगिस्तानी इलाक़ा फैला हुआ है—पूरब में खेती का आधार सदा मानव द्वारा निर्मित नहरों आदि से सिंचाई की व्यवस्था रही है। मिश्र और हिन्दुस्तान की तरह, ईराक़, ईरान आदि में भी, बाँध बना कर पानी को रोकने और फिर उससे ज़मीन सींचने की प्रथा है और नहरों को जारी रखने के लिये ऊँची भूमि से लाभ उठाया जाता है। इस प्रकार, समाज के जीवन की यह एक बुनियादी आवश्यकता बन जाती है कि पानी का मिल-जुल कर और कमखर्ची के साथ उपयोग किया जाय। पश्चिम में, इस आवश्यकता के कारण निजी उद्योग को स्वेच्छा से सहयोग का रास्ता अपनाना पड़ा था, जैसा कि फ्लैंडर्स तथा इटली में देखने में आया। पूरब में, जहाँ सभ्यता का स्तर बहुत नीचा और भूमि-विस्तार बहुत बड़ा था और इसलिये जहाँ लोगों का स्वेच्छा से सहयोगी संगठन का मार्ग अपनाना कठिन था, इस आवश्यकता को पूरा करने के लिये सरकार की केन्द्रीय शक्ति को हस्तक्षेप करना पड़ा। अतएव, सभी एशियाई सरकारों पर एक आर्थिक ज़िम्मेदारी भी आ पड़ी; वह थी—सार्वजनिक हित के निर्माण-कार्य की ज़िम्मेदारी। भूमि की सिंचाई की यह कृत्रिम व्यवस्था एक केन्द्रीय सरकार पर आधारित थी, और जब सरकार ने आबपाशी तथा सिंचाई के काम की ओर लापरवाही दिखाना शुरू की तो पूरी व्यवस्था तुरन्त चौपट हो गई। यही कारण है कि आज हमें इन देशों में यह अजीब बात दिखाई देती है कि जिन इलाक़ों में कभी बड़ी बढ़िया खेती होती थी, वे पूरे के पूरे तबाह और बरबाद हो गये हैं और मरुस्थल बन गये हैं। पाल्मीरा की, पेत्रा की, यमन के भग्नावशेषों की और मिश्र, ईरान तथा हिन्दुस्तान के अनेक बड़े-बड़े सूबों की आज यही दशा हो गई है। और, यही इस बात का भी कारण है कि किसी देश में यदि एक भी विनाशकारी युद्ध आ जाता है, तो वह देश सदियों के लिये जन-विहीन हो जाता है और उसकी पूरी सभ्यता चौपट हो जाती है।

अब अंग्रेजों ने पूर्वी भारत में अपने पूर्वाधिकारियों के अर्थ-विभाग और युद्ध-विभाग को तो संभाल लिया है, पर सार्वजनिक निर्माण-विभाग की ओर उन्होंने एकदम उपेक्षा दिखाई है। परिणामस्वरूप एक ऐसी खेती, जो स्वतन्त्र प्रतियोगिता अथवा स्वतन्त्र व्यवसाय या निर्बाध व्यापार के ब्रिटिश सिद्धान्त के अनुसार नहीं चलाई जा सकती, पतन के गढ़े में गिर गई है। परन्तु एशियाई साम्राज्यों में, हम अक्सर यह भी देखने के आदी हैं कि एक सरकार के मातहत खेती की हालत बिगड़ी और फिर कोई दूसरी सरकार आई तो उसकी हालत सुधर गई। यूरोप में फ़सल जैसे अच्छे या बुरे मौसम पर निर्भर रहती है, वैसे ही एशिया में वह अच्छी या बुरी सरकार के हिसाब से होती है। इसलिये, दमन करना तथा खेती की ओर उपेक्षा दिखाना बुरी बातें हैं, पर उन्हें भारतीय समाज पर ब्रिटिश आक्रमणकारियों की अन्तिम चोट नहीं समझा जा सकता था, यदि उनके साथ-साथ एक और भी बहुत महत्त्वपूर्ण बात न हो जाती जो कि पूरी एशियाई दुनिया के इतिहास में एक बिलकुल नई बात थी। उन्नीसवीं सदी के पहले दशक तक, हिन्दुस्तान का राजनीतिक रूप कितना ही अधिक क्यों न बदलता रहा हो, उसकी सामाजिक हालत बराबर वैसी ही चली आ रही थी जैसी प्राचीन से प्राचीन काल में थी। करघा और चर्खा समाज की धुरी का काम करते थे और उनसे असंख्य कातने वाले और बुनकर उत्पन्न होते रहते थे। अति प्राचीन काल से यूरोप हिन्दुस्तानी कारीगरों का बनाया हुआ कपड़ा उपयोग कर रहा था और उसके बदले में सोना-चाँदी जैसी मूल्यवान धातुएँ भेज रहा था, जो वहाँ सुनार के कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल होती थीं। सुनार हिन्दुस्तानी समाज का एक नितान्त आवश्यक सदस्य होता है, क्योंकि यह समाज तड़क-भड़क और साज-सज्जा का इतना प्रेमी है कि नीचे से नीचे स्तर के लोग भी, जो लगभग नंगे बदन घूमते हैं, आम तौर पर कानों में एक जोड़ी सोने की बालियाँ और गले में किसी न किसी तरह का सोने का एक जेवर जरूर पहनते हैं। हाथों की उंगलियों में अंगूठियाँ और पैरों की उंगलियों में

छल्ले या बिछुवे पहनना भी साधारण बात है। औरतें, और यहाँ तक कि बच्चे भी, अक्सर सोने या चाँदी के भारी-भारी कड़े और छल्ले हाथों-पैरों में पहनते हैं और घरों में सोने-चाँदी की मूर्तियाँ पूजा के लिये पाई जाती हैं। अंग्रेज ने आकर हिन्दुस्तानी करघे को तोड़ डाला और चर्खे को नष्ट कर दिया। इंग्लैण्ड हिन्दुस्तानी कपड़े को यूरोप के बाजारों से खदेड़ने लगा। फिर उसने हिन्दुस्तान में सूत भेजना शुरू किया और अन्त में, कपड़े की मातृभूमि को अपने कपड़ों से पाट दिया। १८१८ और १८३६ के बीच, ब्रिटेन से हिन्दुस्तान आने वाले सूत का परिमाण ५,२०० गुना बढ़ गया। १८२४ में, मुश्किल से ६० लाख गज अंग्रेजी मलमल हिन्दुस्तान आती थी। १८३७ में, उसकी मात्रा ६४० लाख गज से भी अधिक पहुँच गई। परन्तु, इस बीच ढाका की आबादी डेढ़ लाख से घटकर २० हजार ही रह गई। हिन्दुस्तान के जो शहर कपड़ा बनाने के लिये प्रसिद्ध थे उनके ध्वंस पर भी बात खतम नहीं हुई। अंग्रेजी भाप और अंग्रेजी विज्ञान ने सारे हिन्दुस्तान में खेती और उद्योग-धन्धों के एके को तोड़ डाला।

हिन्दुस्तानी एक ओर तो, पूरब की सभी क़ौमों की तरह, अपने विशाल सार्वजनिक निर्माण-कार्य को, जो कि उनकी खेती और व्यापार का मुख्य आधार था, केन्द्रीय सरकार के हाथों में छोड़े रहते थे; दूसरे, वे सारे देश में ऐसे छोटे-छोटे केन्द्रों में बिखरे हुए रहते थे जिन्हें खेती और उद्योग-धन्धों की घरेलू एकता ने क़ायम कर रखा था। इन दो बातों से एक विशेष प्रकार की सामाजिक व्यवस्था ने जन्म लिया था, जो अति प्राचीन काल से चली आ रही थी। यही वह अपनी ख़ास विशेषताओं वाली तथाकथित ग्रामीण व्यवस्था थी, जिसने इनमें से प्रत्येक छोटे केन्द्र को एक स्वतन्त्र संगठन और विशिष्ट जीवन प्रदान कर रखा था। इस व्यवस्था का कैसा अनोखा रूप था, यह नीचे लिखे वर्णन से स्पष्ट हो जाता है जो हिन्दुस्तान के मामलों पर ब्रिटिश कामन्स सभा की एक पुरानी सरकारी रिपोर्ट से लिया गया है :

"भौगोलिक दृष्टि से, गाँव, देहात का एक ऐसा हिस्सा होता है

जिसमें कुछ सौ या हजार एकड़ उपजाऊ और ऊसर जमीन होती है। राजनीतिक दृष्टि से, वह एक शहर या कस्बे के समान होता है। उसमें निम्न प्रकार के कर्मचारी या अफ़सर होते हैं: **पटेल**, अर्थात् मुखिया जो आम तौर पर गाँव के मामलों की देख-रेख करता है, गाँव के निवासियों के आपसी झगड़ों का निपटारा करता है, पुलिस की देख-रेख करता है और गाँव के लोगों से मालगुजारी अथवा राज्य-दण्ड वसूल करता है। अपने व्यक्तिगत प्रभाव के कारण तथा परिस्थितियों के और लोगों की आवश्यकताओं के अपने ज्ञान के कारण वह इस अन्तिम काम को सबसे अच्छी तरह कर सकता है। **कर्नम**, अथवा पटवारी खेती का हिसाब-किताब रखता है और इस सम्बन्ध में पूरी जानकारी अपने काग़ज़ों में दर्ज करता है। तालियर, अथवा चौकीदार गाँव में होने वाले अपराधों और जुर्मों के बारे में पता लगाता है और एक गाँव से दूसरे गाँव जाने वालों के साथ जाता है और रास्ते में उनकी रक्षा करता है। तोती, एक दूसरे प्रकार का चौकीदार होता है, जिसका काम गाँव के अन्दरूनी मामलों से अधिक सम्बद्ध प्रतीत होता है। वह फ़सल की चौकीदारी करता है और उन्हें मापने में मदद देता है। एक कर्मचारी पर गाँव की सीमाओं की रक्षा करने तथा कोई विवाद उठने पर सीमाओं के सम्बन्ध में गवाही देने की जिम्मेदारी रहती है। तालाबों और रजवाहों की देख-रेख करने वाला कर्मचारी खेती के लिये पानी बाँटता है। इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण होता है जो गाँव की ओर से पूजा करता है। पाठशाला का पण्डित होता है, जो रेत में गाँव के बच्चों को लिखना-पढ़ना सिखाता दिखाई देता है। इसके अलावा, ज्योतिषी होता है जो पत्रा देखता है। ये सारे अधिकारी और कर्मचारी गाँव का प्रबन्ध करते हैं; पर देश के कुछ हिस्सों में उनका विस्तार इतना नहीं होता और उपरोक्त कामों में से कई काम किसी एक व्यक्ति को ही करने पड़ते

मा० — ३

हैं, जबकि देश के कुछ दूसरे हिस्सों में उनकी तादाद ऊपर बताये गये लोगों से भी ज़्यादा होती है। इस देश के निवासी अति प्राचीन काल से इस साधारण ढंग के स्थानीय शासन के अन्तर्गत रहते आये हैं। गाँवों की सीमाएँ शायद ही कभी बदली हों। और, यद्यपि गाँव कितनी ही बार युद्ध, अकाल अथवा महामारी से तबाह और बरबाद तक हो गये, परन्तु सदियों तक गाँव का नाम वही रहता है, सीमाएँ वे ही रहती हैं, हित वे ही रहते हैं और यहाँ तक कि खानदान भी वे ही रहते हैं। राज्य अथवा बादशाहत छिन्न-भिन्न हो जाय या टुकड़े-टुकड़े हो जाय, गाँव के निवासियों को इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं होती। बस उनका गाँव पूरा का पूरा रहे, फिर उन्हें परवाह नहीं कि देश की बागडोर किसके हाथों में रहती है या कौनसा राजा गद्दी पर बैठता है। ऊपर कुछ भी परिवर्तन होते रहें, गाँव की अन्दरूनी आर्थिक व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रहती है। वहाँ हर हालत में पटेल या मुखिया का ही हुक्म चलता है और वही न्यायाधीश और गाँव की मालगुज़ारी इकट्ठी करने का काम करता है।"

सामाजिक संगठन के ये छोटे-छोटे रूप, जो सदियों से और देश भर में बार-बार एक ही शक्ल में उभरते रहे थे, अब अधिकतर मिट गये हैं; और उनको मिटाने का श्रेय टैक्स इकट्ठा करने वाले अंग्रेज अफ़सरों और अंग्रेज सिपाहियों की बर्बरता को इतना नहीं है जितना कि अंग्रेजी भाप और अंग्रेजी स्वतन्त्र व्यापार की कारगुज़ारी को है। गाँवों में रहने वाले परिवारों के ये समूह घरेलू उद्योगों पर आधारित थे। वे हाथ से ही सूत कातते-बुनते थे और हाथ से ही खेती करते थे। इस प्रकार, वे केवल अपने ऊपर ही निर्भर रहते थे। अंग्रेजी हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप, अब सूत कातनेवाला लंकाशायर में रहता है और बुनकर बंगाल में। हिन्दुस्तान का सूत कातनेवाला और बुनकर दोनों तबाह हो गये हैं। अंग्रेजी हस्तक्षेप ने इस प्रकार उन छोटी-छोटी अर्द्ध-बर्बर, अर्द्ध-सभ्य बस्तियों को, उनके आर्थिक आधार को नष्ट करके, छिन्न-भिन्न कर

तो एकमात्र सामाजिक क्रान्ति कर डाली है।

इसमें सन्देह नहीं कि उन असंख्य, मेहनती, दादापन्थी, निरीह सामाजिक संगठनों का इस तरह टूटना और बिखर जाना और दुखों के समुद्र में डूबने-उतराने लगना तथा उनके व्यक्तिगत सदस्यों का अपनी प्राचीन सभ्यता के साथ-साथ, जीविका कमाने के पुश्तैनी साधनों को भी खो बैठना—ये ऐसी घटनाएँ हैं जिन्हें देखकर मनुष्य का हृदय शोक में डूब जाता है। परन्तु साथ ही, हमें यह भी न भूलना चाहिये कि ये ऊपर से बड़ी सुन्दर और निर्दोष दिखने वाली ग्रामीण बस्तियाँ ही सदा पूरब की तानाशाहियों के दृढ़ आधार का काम करती आई हैं। उन्होंने मनुष्य के मस्तिष्क को संकुचित से संकुचित सीमाओं में बाँध रखा था, जिससे मनुष्य अन्धविश्वासों का निस्सहाय साधन और रूढ़ियों तथा पुराने रीति-रिवाजों का गुलाम बन गया था और उसका सम्पूर्ण गौरव और गरिमा नष्ट हो गई थी; उसकी ऐतिहासिक शक्तियाँ जाती रही थीं। हमें उस बर्बर अहमन्यता को भी नहीं भूलना चाहिये जो अपना सारा ध्यान जमीन के एक छोटे से टुकड़े पर लगाये हुए, बड़े-बड़े साम्राज्यों को चुपचाप टूटते और मिटते देखती रही, जो बिना एक भी शब्द मुँह से निकाले अवर्णनीय अत्याचारों को सहन करती रही, जिसने बड़े-बड़े शहरों में कत्लेआम होते देख और देख कर इस तरह मुँह फिरा लिया जैसे कोई स्वाभाविक घटना हो रही हो और जो स्वयं भी हर उस आक्रमणकारी का शिकार बनती रही है जिसने उसकी ओर किंचित मात्र भी ध्यान दिया। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि प्रतिष्ठा और गौरव से हीन, इस अप्रगतिशील और सर्वथा जड़ जीवन ने, इस निष्क्रिय अस्तित्व ने, दूसरी ओर अपने से बिलकुल भिन्न विनाश की विवेकहीन, उद्देश्यहीन और उच्छृङ्खल शक्तियों को जन्म दे रखा था और मनुष्य-हत्या को हिन्दुस्तान की एक धार्मिक प्रथा बना रखा था। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि इन छोटी-छोटी बस्तियों को जात-पाँत के भेद-भाव और दासता की प्रथा ने दूषित कर रखा था; उन्होंने मनुष्य को

बाह्य परिस्थितियों का स्वामी बनाने के बजाय उनका दास बना दिया था; उन्होंने एक स्वयं अपना विकास करने वाली सामाजिक व्यवस्था को कभी न बदलने वाली प्राकृतिक नियति का रूप दे दिया था और इस प्रकार, एक ऐसी प्रकृति-पूजा को जन्म दिया था कि मनुष्य अपनी मनुष्यता खोता जा रहा था और प्रकृति का स्वामी इन्सान वानर हनुमान और गऊ शबला के सामने घुटने टेकता था।

यह सच है कि इंग्लैण्ड ने हिन्दुस्तान में सामाजिक क्रान्ति निकृष्टतम उद्देश्यों से प्रेरित होकर की थी और बड़े मूर्खतापूर्ण ढंग की ज़ोर-ज़बर्दस्ती करके यह काम किया था। परन्तु, प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या एशिया की सामाजिक अवस्था में बिना एक बुनियादी क्रान्ति के मानव जाति अपने लक्ष्य तक पहुँच सकती है? यदि नहीं, तो मानना पड़ेगा कि इंग्लैण्ड ने चाहे जितने पाप किये हों, इस क्रान्ति को लाने में उसने इतिहास के एक अचेतन साधन का काम अवश्य किया है।

अतः एक प्राचीन सभ्यता के नष्ट होने का दृश्य हमारी व्यक्तिगत भावनाओं के लिये चाहे जितना भयानक और कष्टदायक रहा हो, ऐतिहासिक दृष्टि से हमें गेटे के शब्दों में यह कहने का अधिकार है कि:

"क्या उस यातना से हमें दुखी होना चाहिये
जो एक महत्तर सुख का निर्माण करती है?
क्या, तैमूर का शासन
अनगिनत आत्माओं को नहीं खा गया था?"

इण्डिया बिल[1] (क)

परिचय

लन्दन, मंगलवार, २५ मई, १८५३

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर की अवधि १८५४ में समाप्त होती है। लार्ड जौन रसेल ने कामन्स सभा में नोटिस दिया है कि हिन्दुस्तान की भावी सरकार के बारे में आगामी ३ जून को सर चार्ल्स वुड के द्वारा सरकार अपना मत प्रकट करेगी। मन्त्रिमण्डल के समर्थक कुछ पत्रों में एक संकेत किया गया है, जिससे जनता के बीच इस अफ़वाह को, जो पहले से ही काफ़ी फैल चुकी है, और भी बल मिलता है कि संयुक्त मन्त्रिमण्डल ने हिन्दुस्तान के पर्वताकार प्रश्न को भी जौ बराबर बना देने का उपाय ढूँढ निकाला है। औब्ज़र्वर नामक पत्र इंग्लैण्ड की जनता के मन को एक नये स्वप्न-भंग के लिये तैयार कर रहा है। एबर्डीन के इस सरकार के विश्वासपात्र पत्र में हमें पढ़ने को मिलता है कि "हमारे पूर्वी साम्राज्य के नये संगठन के बारे में जितना समझा जाता है उससे बहुत कम करने की आवश्यकता रह जायगी।" यानी, जितना समझा जाता है उससे भी बहुत कम हमारे लार्ड रसेल और एबर्डीन करने वाले हैं।

प्रस्तावित परिवर्तनों की मुख्य विशेषताएँ दो बहुत छोटी बातों से प्रकट हो जाती हैं। पहली यह कि डायरेक्टरों के बोर्ड में कुछ नये सदस्य जोड़ कर "ताज़गी" लायी जायगी, जिन्हें सीधे सम्राट की ओर से नियुक्त किया

१. न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून, ६ जून, १८५३।

जायगा। यह नया खून भी "शुरू में थोड़ा-थोड़ा करके" दिया जायगा, यानी पुरानी डायरेक्टर-व्यवस्था का इलाज इस ढंग से किया जायगा कि जो नया खून "बहुत सतर्कता" के साथ बोर्ड को दिया जाय उसमें पहले ठहराव आजाय, तब कहीं नये खून की दूसरी क़िस्त देने की बात सोची जाय। दूसरी बात यह है कि अभी तक जो एक ही आदमी जज का भी काम करता था और चुंगी भी वसूलता था, इस प्रथा का अन्त कर दिया जायगा और पढ़े-लिखे लोगों को जज बनाया जायगा। इन सुझावों को सुन कर, क्या ऐसा नहीं लगता कि हम मध्य युग के प्रथम चरण में पहुँच गये हैं, जब सामन्ती सरदारों की जगह वकील लोग न्यायाधीश बनाये जाने लगे थे, जिनके लिये कम से कम पढ़ना-लिखना आवश्यक समझा जाता था?

सर चार्ल्स वुड, जो नियन्त्रण-बोर्ड के अध्यक्ष के रूप में यह समझदारी का सुधार पेश करने वाले हैं, वही सज्जन हैं जिन्होंने पिछली व्हिग सरकार के समय ऐसी विलक्षण बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था कि संयुक्त सरकारी दल यह सोच-सोच कर हैरान था कि इन महाशय का करे क्या। अन्त में, उसने उन्हें हिन्दुस्तान रवाना कर दिया। रिचार्ड तृतीय ने एक घोड़े के बदले में एक राज्य देने का ऐलान किया था; संयुक्त दल ने साम्राज्य के बदले एक गधा दे डाला! सचमुच, जिस छोटे से गुट के हाथ में आज सरकार की बागडोर है, यदि उसकी सरकारी मूर्खता ही इस बात की परिचायक है कि आज इंग्लैण्ड क्या कर सकता है, तो कहना पड़ेगा कि इंग्लैण्ड के संसार पर शासन करने के दिन लद गये।

पिछले दिनों यह बात कई बार देखी जा चुकी है कि संयुक्त दल के पास हमेशा हरेक काम को, यहाँ तक कि छोटे से छोटे काम को भी टालने के लिये उपयुक्त कारण निकल आते थे। और, हिन्दुस्तान के बारे में तो परिस्थिति यह है कि दोनों दुनियाओं का जनमत उसकी टालने की प्रवृत्ति का समर्थन करता है। एक ही समय में, इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान दोनों की जनता यह माँग कर रही है कि हिन्दुस्तान के मामलों पर उस वक्त तक क़ानून बनाना स्थगित रखा जाय जब तक हिन्दुस्तानियों की राय न

ले ली जाय, आवश्यक सामग्री इकट्ठी न हो जाय और इस वक्त जिन मामलों की जाँच जारी है वह पूरी न हो जाय। हिन्दुस्तान के तीनों प्रेज़ीडेंसी प्रान्तों[1] से डाउनिंग स्ट्रीट[2] में ऐसी अनेक दरख्वास्तें पहुँच चुकी हैं जिनमें क़ानून बनाने में जल्दबाज़ी करने पर खेद प्रकट किया गया है। मैनचेस्टर वालों ने एक हिन्दुस्तानी संस्था बना डाली है, जिसका काम तुरन्त शुरू होने वाला है। यह संस्था राजधानी में और देश भर में आम सभाएँ करेगी और उनमें इस विचार का विरोध करेगी कि पार्लामेण्ट के वर्तमान अधिवेशन में हिन्दुस्तान के विषय पर कोई बिल पेश किया जाय। इसके अतिरिक्त, हिन्दुस्तानी सरकार के मामलों पर रिपोर्ट करने के लिये पार्लामेण्ट की दो कमिटियाँ बैठी हुई हैं। परन्तु इस बार, मालूम पड़ता है कि संयुक्त मन्त्रिमण्डल ने अपने मन में कुछ ठान लिया है। वह किसी भी कमिटी की सलाह के लिए नहीं रुकना चाहता। वह लगे हाथ १५ करोड़ नर-नारियों के लिये २० वर्ष तक चलने वाला क़ानून इसी दम बना डालना चाहता है। सर चार्ल्स वुड अपने को आधुनिक युग का मनु सिद्ध करने पर तुले हुए हैं। प्रश्न यह है कि सदा "फूँक-फूँक कर" क़दम रखने वाले हमारे इन पंगु राजनीतिज्ञों में जल्द से जल्द क़ानून बना डालने का यह जोश कहाँ से आ गया!

वे पुराने हिन्दुस्तानी चार्टर को अगले बीस सालों के लिये फिर से जारी कराना चाहते हैं। इसके लिये बहाना वही है जो सदा उनके पास तैयार रहता है, यह कि शासन—व्यवस्था में सुधार करना ज़रूरी है। क्यों? इंग्लैण्ड के शासक गुट को अपने ऐश्वर्य के दिन समाप्त होते दिखाई दे रहे हैं। और इस भय के कारण, यह ठीक ही है कि वह इंग्लैण्ड की पार्लामेण्ट के साथ एक ऐसी संधि कर लेना चाहता है जिसके द्वारा, इंग्लैण्ड यदि कभी उसके स्वार्थ-लोलुप किन्तु दुर्बल हाथों से निकल भी जाय, तो भी हिन्दुस्तान को लूटने का उसका और उसके संगी-साथियों का अधिकार अगले बीस सालों तक ज़रूर बना रहे।

---

१. मद्रास, बंगाल और बम्बई के प्रान्त।—अनु०

२. **डाउनिंग स्ट्रीट** लन्दन की वह सड़क है जिस पर सभी मुख्य सरकारी दफ़्तर स्थित हैं।—अनु०

इण्डिया बिल[1] (ख)

सर चार्ल्स वुड की लीपापोती

लन्दन, शनिवार, ७ मई, १८५३।

१८३३ का पिछला इण्डिया-बिल मिस्टर फ़ौक्स और लार्ड नौर्थ के संयुक्त मन्त्रिमण्डल के लिये प्राण-लेवा सिद्ध हुआ था। १८५३ का नया इण्डिया बिल मिस्टर ग्लैड्स्टन और लार्ड जौन रसेल के संयुक्त मन्त्रिमण्डल के लिये प्राण-लेवा सिद्ध होने वाला है। परन्तु, पहला मन्त्रिमण्डल यदि इसलिये उलटा गया था कि उसने डायरेक्टरों के कोर्ट को तथा मालिकों को हटाने की चेष्टा की थी, तो इस मन्त्रिमण्डल के लिये इसके बिलकुल उल्टे कारण से ख़तरा पैदा हुआ है। ३ जून को सर चार्ल्स वुड ने हिन्दुस्तान की सरकार का विधान निश्चित करने के लिये एक बिल पेश करने की अनुमति मांगी। सर चार्ल्स वुड ने अपने अनावश्यक रूप से लम्बे भाषण के लिये पहले ही से क्षमा मांग कर शुरूआत की। और, इसके लिये कारण यह दिया कि "विषय बहुत बड़ा" है और आख़िर "उन्हें १५,००,००,००० आत्माओं के सम्बन्ध में" बोलना है, इसलिये छोटे भाषण से कैसे काम चल सकता है। अतएव, सर चार्ल्स वुड ने प्रति तीन करोड़ लोगों के लिये एक घण्टे से कम नहीं लिया। परन्तु, सवाल यह है कि जब "छोटी से छोटी बातों पर भी" आप सदा बहस स्थगित करते रहते हैं तो इस "महान् विषय" पर क़ानून बनाने की जल्दी क्यों पड़ गई? जवाब

---

१. न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून, ९ जून, १८५३।

दिया जाता है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चार्टर ३० अप्रैल, १८५४ को समाप्त हो रहा है। लेकिन, पूछा जा सकता है कि यदि यही कारण है तो वर्तमान व्यवस्था को फ़िलहाल जारी रखने के लिये एक अस्थायी बिल क्यों नहीं पास कर दिया जाता ताकि स्थायी क़ानून के बारे में भविष्य में बहस होती रहे? जवाब मिलता है, यह इसलिये कि "इस विशाल एवम् महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर चुपचाप विचार करने का ऐसा अवसर फिर मिलेगा", यह आशा नहीं की जा सकती। मतलब यह कि इस सवाल को पार्लामेण्टी तरीक़े से दबा देने का फिर मौक़ा नहीं मिलेगा! साथ ही, कहा जाता है कि इस वक्त मामले की पूरी जानकारी हमारे पास मौजूद है; ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों की राय है कि इस अधिवेशन में ही क़ानून बना देना अत्यन्त आवश्यक है, और हिन्दुस्तान के गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौज़ी ने एक आवश्यक पत्र भेजकर सरकार से अनुरोध किया है कि यह क़ानून तुरन्त बना डाला जाय। परन्तु, तुरन्त क़ानून बनाने के पक्ष में सर चार्ल्स ने जो सबसे जोरदार दलील दी है, वह यह है कि यद्यपि वह स्वयं ऐसे अनेक प्रश्नों पर बोलने को तैयार हैं जो "उस बिल के दायरे में नहीं आते जो वह पेश करने वाले हैं," परन्तु "जहाँ तक क़ानून का सम्बन्ध है, वह जो बिल पेश करने वाले हैं वह बहुत ही संक्षिप्त और सीमित है।" इस भूमिका के बाद, सर चार्ल्स ने गत बीस वर्षों के हिन्दुस्तान के शासन पर लीपापोती की। उन्होंने कहा: "हमें हिन्दुस्तान को किसी क़दर हिन्दुस्तानी नजर से देखना चाहिये।" उनकी इस हिन्दुस्तानी नजर में यह विशेष गुण मालूम होता है कि इंग्लैण्ड की हर चीज उसे उजली और हिन्दुस्तान की हर चीज काली दिखाई पड़ती है: "हिन्दुस्तान में आपका वास्ता एक ऐसी नस्ल से है जो बहुत धीरे-धीरे परिवर्तनों को अंगीकार करती है और धार्मिक अंधविश्वासों तथा प्राचीन रूढ़ियों से जकड़ी हुई है। वस्तुतः शीघ्र उन्नति के रास्ते में वहाँ तरह-तरह की रुकावटें पाई जाती हैं।" (शायद हिन्दुस्तान में कोई ह्विग संयुक्त दल भी है!) सर चार्ल्स वुड आगे कहते हैं:

"जिन बातों पर सबसे ज्यादा ज़ोर दिया गया है और जो कमिटी के सामने पेश की गई दरखास्तों की शिकायतों के शीर्षक-रूप में भी हमारे सामने आई हैं, वे न्याय-प्रबन्ध, सार्वजनिक निर्माण-कार्यों की कमी और ज़मीन के प्रबन्ध से सम्बन्धित हैं।" सार्वजनिक निर्माण के सम्बन्ध में सरकार का इरादा है कि कुछ "अत्यन्त विशाल एवं महत्त्वपूर्ण" योजनाओं को हाथ में ले। ज़मीन के प्रबन्ध के बारे में, सर चार्ल्स ने बहुत सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिया कि भूमि-व्यवस्था के तीनों वर्तमान रूप—ज़मींदारी, रैयतवारी, और ग्राम-व्यवस्था—तीनों कम्पनी के हाथों में मालगुज़ारी की वसूली के ज़रिये शोषण करने के साधन बने हुए हैं और उनमें से कोई भी रूप ऐसा नहीं है जो सारे देश में जारी किया जा सके या जो सचमुच इसके लायक़ हो। एक बिलकुल नई और इन सब रूपों से उल्टी व्यवस्था भी जारी की जा सकती है, यह विचार सर चार्ल्स वुड के दिमाग़ में तनिक देर के लिये भी नहीं आता। "न्याय-व्यवस्था के प्रबन्ध के बारे में", वह आगे कहते हैं: "शिकायतें मुख्यतया अंग्रेज़ी क़ानून की बारीकियों से पैदा होने वाली कठिनाइयों से, अंग्रेज़ जजों की कथित अयोग्यता से और देशी अफ़सरों तथा न्यायाधीशों के भ्रष्टाचार से सम्बन्धित हैं।" और फिर, यह साबित करने के लिये कि हिन्दुस्तान में न्याय-व्यवस्था का प्रबन्ध करने के लिये कितनी मेहनत की जा रही है, सर चार्ल्स बताते हैं कि हिन्दुस्तान में १८३३ में ही एक क़ानून-कमीशन नियुक्त कर दिया गया था। परन्तु स्वयं सर चार्ल्स वुड के वक्तव्य के अनुसार, इस कमीशन ने काम किस ढंग से किया? उसकी मेहनत का पहला और अन्तिम परिणाम यह था कि मिस्टर मैकौले की देखरेख में एक फ़ौजदारी क़ानून तैयार किया गया। यह क़ानून हिन्दुस्तान के विभिन्न स्थानीय अधिकारियों के पास भेजा गया, जहाँ से वह इंग्लैण्ड आया, फिर यहाँ से वापिस हिन्दुस्तान गया और हिन्दुस्तान से एक बार फिर इंग्लैण्ड लौट आया। हिन्दुस्तान में, इस बीच, लेजिस्टलेटिव काउंसिल में मिस्टर मैकौले की जगह मिस्टर बेथ्यून ने ले ली थी। इसलिये, वहाँ क़ानून को बिलकुल बदल डाला गया और

इसलिये गवर्नर-जनरल ने, जिसकी तब यह राय नहीं थी कि "देरी से कमजोरी और खतरा पैदा हो सकता है" क़ानून को इंग्लैण्ड लौटा दिया। इंग्लैण्ड से उसे यह कह कर फिर गवर्नर-जनरल के पास लौटा दिया गया कि उन्हें जिस रूप में चाहें उसे पास करने का अधिकार है। परन्तु, अब मिस्टर बेथ्यून की मृत्यु हो गई है और इसलिये गवर्नर-जनरल ने यह उचित समझा है कि क़ानून को एक तीसरे अंग्रेज वकील को सौंप दें और यह वकील ऐसा है जो हिन्दुस्तानियों के रीति-रिवाजों और प्रथाओं के बारे में कुछ भी नहीं जानता। साथ ही, गवर्नर-जनरल ने यह अधिकार अपने हाथ में रखा है कि इस पूर्णतया अयोग्य अधिकारी द्वारा तैयार किये गये क़ानून को चाहें तो बाद में अस्वीकार कर दें। यह है इस क़ानून का लम्बा इतिहास, जो अभी तक नहीं बन पाया है। जहाँ तक हिन्दुस्तान के क़ानून की बेहूदा बारीकियों का सवाल है, सर चार्ल्स अपने समर्थन में इंग्लैण्ड के क़ानून की दुहाई देते हैं कि आखिर उसमें भी तो ऐसी बेहूदा बारीकियाँ पाई जाती हैं। परन्तु, बड़े जोरों से यह कहने के साथ-साथ कि अंग्रेज जजों को भ्रष्टाचार छू तक नहीं गया है, सर चार्ल्स उन्हें नामजद करने का तरीका बदल कर उनकी बलि देने को भी तैयार हैं। हिन्दुस्तान ने आम तौर पर कितनी तरक़्क़ी की है, यह दिल्ली की मौजूदा हालत तथा कुली खाँ के आक्रमण के समय की दशा की तुलना करके बता दिया गया। नमक-कर के समर्थन में अत्यन्त प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों के तर्कों को पेश किया गया, जिनकी एक स्वर से यह राय है कि जीवन की किसी रोजाना की आवश्यकता की चीज पर कर लगाना चाहिये। परन्तु, सर चार्ल्स वुड ने यह नहीं बताया कि ये अर्थशास्त्री उस समय क्या कहते जब उन्हें यह पता चलता कि १८४६-५२ के बीच, दो सालों में नमक के उपयोग में ६०,००० टन की कमी हो गई है और राज्य की आमदनी में ४,१५,००० पौण्ड की घटती हो गई है, जब कि नमक कर से होने वाली कुल आमदनी २०,००,००० पौण्ड होती है। सर चार्ल्स ने जो सुझाव पेश किये हैं और जो "बहुत ही संक्षिप्त और सीमित" हैं, वे इस प्रकार हैं:

१. डायरेक्टरों की कोर्ट के सदस्यों की संख्या २४ के बजाय १८ हो, जिसमें से १२ मालिकों द्वारा चुने जायें और ६ सम्राट द्वारा।

२. डायरेक्टरों की तनखा ३०० से बढ़ा कर ५०० पौण्ड प्रति वर्ष कर दी जाय; अध्यक्ष (चेयरमैन) को १,००० पौण्ड मिलें।

३. हिन्दुस्तान में सिविल सर्विस के सभी सामान्य पदों और फ़ौजी सर्विस के सभी वैज्ञानिक पदों को स्वतन्त्र प्रतियोगिता के द्वारा भर्ती करने के लिये खोल दिया जाय, परन्तु घुड़सवार सेना के उम्मीदवार-अफ़सरों को नामज़द करने का अधिकार डायरेक्टरों के हाथों में रहे।

४. गवर्नर-जनरल के पद को बंगाल के गवर्नर के पद से अलग कर दिया जाय, और सर्वोच्च सरकार को सिंधु नदी वाले ज़िलों का एक नया प्रेजीडेंसी प्रान्त बनाने का अधिकार दे दिया जाय।

५. और, अन्तिम बात यह कि यह पूरा क़ानून उस वक्त तक लागू रहे जब तक कि पार्लामेण्ट कोई और फ़ैसला न कर दे।

सर चार्ल्स के भाषण तथा प्रस्ताव की मिस्टर ब्राइट ने बहुत कड़ी और व्यङ्गात्मक आलोचना की। उन्होंने वर्णन किया कि किस प्रकार कम्पनी ने तरह-तरह के कर और मालगुज़ारी वसूल करके हिन्दुस्तान को तबाह कर दिया है, परन्तु वह यह बताना भूल गये कि हिन्दुस्तान की तबाही में मैनचेस्टर और स्वतन्त्र व्यापार का भी हाथ है। पिछली रात ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पुराने अधिकारी सर जे० हौग़ भी बोले थे, जो कम्पनी के डायरेक्टर भी हैं या रह चुके हैं। जहाँ तक उनके भाषण का सम्बन्ध है, मेरा ख़याल है कि उस तरह की बातें मैं पहले भी सुन चुका हूँ। १७०१ में, १७३० में, १७४३ में, १७६८ में, १७७२ में, १७८१ में, १७८३ में, १७८४ में, १७९३ में, १८१३ में और अन्य बहुतेरे मौक़ों पर भी ऐसी बातें हमसे कही जा चुकी हैं। और, इन सज्जन ने जो अपनी या डायरेक्टरों की प्रशंसा के पुल बांधे हैं, उनके जवाब में मैं हिन्दुस्तान के वार्षिक हिसाब से लिये हुए चन्द आंकड़े पेश करना चाहता हूँ, जो मेरे ख़याल में स्वयं इन महाशय की देखरेख में प्रकाशित हुए हैं।

हिन्दुस्तान की कुल सरकारी आमदनी (नेट)

१८४६-५०..........२, ०२, ७५, ८३१ पौण्ड
१८५०-५१..........२, ०२, ४६, ६३२ पौण्ड
१८५१-५२..........१, ६६, २७, ०३६ पौण्ड

तीन सालों में सरकारी आमदनी में ३, ४६, ७२६ पौण्ड की कमी हुई।

हिन्दुस्तान का कुल सरकारी ख़र्च

१८४६-५०..........१, ६६, ८७, ३८२ पौण्ड
१८५०-५१..........१, ७१, ७०, ७०७ पौण्ड
१८५१ ५२..........१, ७६, ०१, ६६६ पौण्ड

तीन साल में सरकारी खर्च १२, १३, २८४ पौण्ड बढ़ा।

भूमि-कर

बंगाल में पिछले चार सालों में भूमि-कर
३५,००,००० पौण्ड तथा ३५,६०,००० पौण्ड के बीच घटता-बढ़ता रहा।

उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त[1] में पिछले चार सालों में वह
४८,७०,००० और ४६,६०,००० पौण्ड के बीच घटता-बढ़ता रहा।

मद्रास में वह पिछले चार सालों में
३६,४०,००० पौण्ड और ३४,७०,००० पौण्ड के बीच घटता-बढ़ता रहा।

बम्बई प्रान्त में वह पिछले चार सालों में
२२,४०,००० पौण्ड और २३,००,००० पौण्ड के बीच घटता-बढ़ता रहा।

१८५१-५२ की कुल सरकारी आमदनी (ग्रौस)

बंगाल............१,००,००,००० पौण्ड
मद्रास............ ५०,००,००० पौण्ड
बम्बई............ ४३,००,००० पौण्ड

---

१. आजकल का उत्तर प्रदेश।—अनु०

सार्वजनिक निर्माण-कार्य पर १८५१-५२ में खर्च :

बंगाल.......... ८७,८०० पौण्ड

मद्रास.......... २०,००० पौण्ड

बम्बई.......... ५८, ५६० पौण्ड

नेट १,९३,००,००० पौण्ड में से १,६६,३६० पौण्ड सड़कों, नहरों, पुलों और सार्वजनिक महत्त्व के अन्य कामों पर खर्च किये गये।

इण्डिया बिल[1] (ग)

सुधार की वास्तविकता

लन्दन, शुक्रवार, १७ जून, १८५३ ।

गत १३ तारीख को कामन्स सभा में लार्ड स्टैनले ने नोटिस दिया कि (२३ तारीख को) इण्डिया बिल के दूसरी बार पेश किये जाने के बाद, वह निम्नलिखित प्रस्ताव पेश करेंगे :

"इस सभा की राय में एक स्थायी हिन्दुस्तानी सरकार के लिये लाभदायक क़ानून बनाने के वास्ते अभी पार्लामेण्ट को और जानकारी की आवश्यकता है और अधिवेशन को शुरू हुए इतना अधिक समय गुज़र चुका है कि अब एक ऐसा क़ानून बनाने की चेष्टा करना बिलकुल ग़लत होगा जो वर्तमान व्यवस्था को तो गड़बड़ कर देता है, परन्तु जिसे स्थायी हल नहीं समझा जा सकता ।"

परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चार्टर अप्रैल १८५४ में समाप्त हो रहा है और इसलिये कुछ न कुछ तो करना ही होगा । सरकार स्थायी क़ानून बनाना चाहती थी; यानी अगले बीस वर्षों के लिये फिर से चार्टर को जारी करना चाहती थी । मैनचेस्टर वालों का गुट चाहता था कि चार्टर की आयु अधिक से अधिक एक साल और बढ़ा दी जाय और इस प्रकार, क़ानून बनाने की तमाम बातें स्थगित कर दी जायें । सरकार ने इसके जवाब में तर्क पेश किया कि हिन्दुस्तान के "सर्वोत्तम" हितों के लिये

---

१. न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून, १ जुलाई, १८५३ ।

आवश्यक है कि स्थायी क़ानून बना दिया जाय, मैनचेस्टर गुट के लोगों ने उत्तर दिया कि जानकारी के अभाव में ऐसा करना असम्भव है। वास्तविकता यह है कि हिन्दुस्तान के "सर्वोत्तम हितों" की बात और जानकारी के अभाव का तर्क, दोनों ही झूठे बहाने हैं। सरकारी गुट चाहता यह है कि कामन्स सभा के विधान में सुधार होने तथा उसके अनुसार नई कामन्स सभा के बैठने के पहले ही, हिन्दुस्तान का गला काट कर, अगले बीस वर्षों के लिये अपने "सर्वोत्तम हितों" को सुरक्षित कर दे। मैनचेस्टर गुट के लोग चाहते हैं कि वर्तमान पार्लामेण्ट में कोई क़ानून न बनाया जाय, क्योंकि उसमें उनके मत के माने जाने की तनिक भी आशा नहीं है। अब संयुक्त मन्त्रिमण्डल ने अपने पुराने वक्तव्यों को तिलांजलि देकर परन्तु, जरा सी मुश्किल आते ही राय बदल देने की अपनी पुरानी आदत का अनुसरण करते हुए, सर चार्ल्स वुड के जरिये, एक ऐसी चीज तो पेश करा दी है जो देखने में क़ानून जैसी कुछ लगती है, परन्तु वह चार्टर को किसी निश्चित काल के लिये फिर से जारी करने का प्रस्ताव पेश करने का साहस नहीं कर सका। लेकिन, उसने एक "समझौता" पेश किया और यह पार्लामेण्ट पर छोड़ दिया कि जब वह चाहे उसे बदल दे। यदि मन्त्रिमण्डल का प्रस्ताव मान लिया गया तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी को पुनः जीवन तो नहीं मिलेगा; हाँ वह जीवन और मृत्यु के बीच अधर में लटकी रहेगी। अन्य सब बातों में मन्त्रिमण्डल के प्रस्तावों से हिन्दुस्तान सरकार के विधान में केवल दिखावटी परिवर्तन ही होते हैं। एकमात्र नई और बड़ी बात यह होगी कि कुछ नये गवर्नर जोड़ दिये जायेंगे, यद्यपि पुराना लम्बा अनुभव बताता है कि भारत के जिन इलाक़ों का शासन साधारण कमिश्नर चलाते हैं वे उन भागों से कहीं अच्छे रहते हैं जिन्हें गवर्नरों और काउंसिलों के खर्चीले ठाठ का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जिन देशों का शोषण के कारण कचूमर निकल गया हो, उन पर व्यर्थ के नये अफ़सर लाद देना, ताकि अभिजात वर्ग के दिवालिया सदस्यों को कुछ काम मिल जाय, ह्विग दल के इस अनोखे आविष्कार से पुरानी रसेल-सरकार की याद ताज़ा हो जाती है। उस ज़माने

में व्हिग दल को अकस्मात् पूरब के हिन्दुओं और मुसलमानों की आध्यात्मिक दरिद्रता की चिन्ता सताने लगी थी और उसे दूर करने के लिये उसने कुछ नये पादरी वहाँ भेजने का निश्चय किया था, जबकि शक्ति के चरम शिखर पर आसीन टोरी दल ने कभी एक से अधिक पादरी भेजना आवश्यक न समझा था। और व्हिग दल के इस प्रस्ताव के पास होते ही, नियन्त्रण-बोर्ड के तत्कालीन व्हिग अध्यक्ष, सर जॉन हौबहाउस को अकस्मात् ज्ञात हुआ था कि उनका एक सम्बन्धी पादरी के पद के लिये बहुत उपयुक्त है। और तत्काल ही, उस आदमी को पादरी बना कर भेज दिया गया था। "ऐसे मामलों में", एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है, "जहाँ माप इतना उपयुक्त हो, यह बताना बहुत कठिन है कि जूता पैर के लिये बनाया गया था, या पैर जूते के लिये।" इसी प्रकार, चार्ल्स वुड के आविष्कार के बारे में यह बताना बहुत कठिन है कि हिन्दुस्तानी प्रान्तों के लिये नये गवर्नर बनाये जा रहे हैं या नये गवर्नरों के लिये हिन्दुस्तानी प्रान्त रचे जा रहे हैं।

जो भी हो, संयुक्त मन्त्रिमण्डल का खयाल था कि पार्लमिण्ट के हाथों में प्रस्तावित क़ानून को जब चाहे बदल डालने का अधिकार छोड़ कर, उसने सभी प्रकार की चीख़-पुकारों को शान्त कर दिया है। परन्तु दुर्भाग्य से, ठीक इसी समय टोरी लार्ड स्टैनले अपना प्रस्ताव लिये हुए रंगमंच पर उतरते हैं और "उग्रवादी विरोधी दल" तालियाँ बजाकर उनका स्वागत करता है। परन्तु, लार्ड स्टैनले के प्रस्ताव में परस्पर विरोधी बातें हैं। एक ओर, वह मन्त्रिमण्डल का प्रस्ताव इस आधार पर ठुकराना चाहते हैं कि कामन्स सभा को स्थायी क़ानून बनाने के लिये और जानकारी की आवश्यकता है। दूसरी ओर, वह यह तर्क भी पेश करते हैं कि प्रस्तावित क़ानून स्थायी क़ानून नहीं है, वह वर्तमान व्यवस्था को तो गड़बड़ कर देता है, पर कोई स्थायी बात नहीं कहता, इसलिये उसे पास करना अनावश्यक है। कंजरवेटिव मत, ज़ाहिर है, इस बिल के खिलाफ़ है क्योंकि उससे कुछ न कुछ परिवर्तन तो होता ही है। उग्रवादी मत इसलिये

मा०—४

उसके खिलाफ़ है कि उससे कोई खास परिवर्तन नहीं होता। परन्तु, यह विचारों के सम्मिश्रण का युग है, इसलिये लार्ड स्टैनले ने एक ऐसा फ़ार्मूला निकाला है जिसमें मन्त्रिमण्डल के मत के विरुद्ध दोनों विरोधी मतों को एक जगह इकट्ठा कर दिया गया है। संयुक्त मन्त्रिमण्डल, स्वभावतः, ऐसी चालों के खिलाफ़ बड़ा सात्विक क्रोध प्रकट करता है और उसका मुखपत्र *क्रौनिकल* कहता है :

"बिल को स्थगित करने के सुझाव पर यदि एक दल की ओर से आने वाले प्रस्ताव के रूप में विचार किया जाय, तो कहना पड़ेगा कि यह प्रस्ताव दलबन्दी की भावना से भरा हुआ और अत्यन्त निन्दनीय है।

"यह प्रस्ताव केवल इसलिये पेश किया गया है कि मन्त्रिमण्डल के कुछ समर्थक पहले से वचन दे चुके हैं कि वे इस विशेष प्रश्न पर उन लोगों के साथ नहीं चलेंगे जिनके साथ वे आम तौर पर चलते हैं।"

मन्त्रियों को सचमुच बड़ी चिन्ता दिखाई देती है। आज का *क्रौनिकल* फिर इस विषय की चर्चा करते हुए लिखता है :

"लार्ड स्टैनले के प्रस्ताव पर जब वोट लिये जायेंगे तो सम्भवतः इण्डिया बिल के भाग्य का निर्णय हो जायगा। इसलिये, यह अत्यन्त आवश्यक है कि जो लोग जल्दी क़ानून बनाने का महत्त्व समझते हैं, वे सरकार के हाथ मजबूत करने के लिये हर मुमकिन कोशिश करें।"

दूसरी ओर, आज के *टाइम्स* में हम पढ़ते हैं :

"हिन्दुस्तान-सरकार वाले बिल का भाग्य अधिकतर स्पष्ट हो चुका है।...सरकार को खतरा इस बात से है कि लार्ड स्टैनले ने जो ऐतराज किये हैं वे जनमत के सर्वथा अनुरूप हैं। इस संशोधन का एक-एक शब्द मन्त्रिमण्डल के लिये घातक सिद्ध हो रहा है।"

बाद को एक पत्र में मैं बताऊँगा कि हिन्दुस्तान के सवाल से ग्रेट ब्रिटेन की विभिन्न पार्टियों की भूमिका पर क्या रोशनी पड़ती है और हिन्दुस्तानियों के कल्याण के प्रश्न पर यहाँ के सामन्ती वर्ग, धनिक वर्ग और औद्योगिक वर्ग के झगड़ों से बेचारे हिन्दुस्तानी क्या लाभ उठा सकते हैं।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी[1]

लन्दन, शनिवार, २१ जून, १८५३।

हिन्दुस्तान के बारे में बनाये जाने वाले क़ानून को स्थगित कर देने के लार्ड स्टैनले के प्रस्ताव पर जो बहस चल रही थी, वह आज शाम तक के लिये रोक दी गई है। १७८३ के बाद पहली बार, हिन्दुस्तान का सवाल मन्त्रिमण्डल को बनाने-बिगाड़ने वाला सवाल बन गया है। इसका क्या कारण है?

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जन्म की सच्ची तारीख़ १७०२ से पहले के काल में निश्चित नहीं की जा सकती, क्योंकि पूरब के व्यापार पर एकाधिकार का दावा करने वाली विभिन्न संस्थाओं ने उसी साल मिल कर एक संयुक्त कम्पनी बनाई थी। उसके पहले तो, पुरानी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अस्तित्व तक कई बार खतरे में पड़ चुका था। एक बार तो क्रौमवेल की सरकार ने कई सालों तक उसका काम बन्द कर दिया था। फिर, विलियम तृतीय के शासन-काल में पार्लामेण्ट के हस्तक्षेप से उसके बिल्कुल भंग कर दिये जाने की नौबत आ गई थी। पार्लामेण्ट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अस्तित्व को तब स्वीकार किया जब डच राजा के अभ्युदय काल में ह्विग दल वाले ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों से राज्य-कर वसूलने वाले बन चुके थे, 'बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड' का जन्म हो चुका था, इंग्लैण्ड में बाहर से आने वाले माल पर चुङ्गी लगा कर देशी उद्योगों की रक्षा करने

१. न्यू यॉर्क डेली ट्रिब्यून, ११ जुलाई, १८५३।

की व्यवस्था बाक़ायदा जारी हो चुकी थी और यूरोप में एक निश्चित शक्ति-संतुलन क़ायम हो चुका था। देखने में यह युग स्वाधीनता का युग था। पर वास्तव में, यह इजारेदारियों का युग था। एलिज़ाबेथ और चार्ल्स प्रथम के शासन-काल में ये एकाधिकारी कम्पनियाँ शाही आज्ञा-पत्र से बना करती थीं। अब पार्लामेण्ट ने उन्हें यह अधिकार दे दिया और उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया। इंग्लैण्ड के इतिहास का यह युग, वास्तव में फ्रांसीसी इतिहास के लुई फ़िलिप के युग से बहुत मिलता है, जबकि पुराने भू-स्वामी अभिजात वर्ग की पराजय हो चुकी थी, परन्तु पूँजीपति वर्ग के लिये "धनिक वर्ग" का झण्डा बुलन्द किये बग़ैर उनका स्थान प्राप्त करना कठिन हो रहा था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इन लोगों को पार्लामेण्ट में प्रतिनिधि भेजने के अधिकार से वंचित कर दिया। इससे, और दूसरे अनेक उदाहरणों से हमें मालूम होता है कि जहाँ पूँजीपति वर्ग ने सामन्ती अभिजात वर्ग पर पहली निर्णयात्मक विजय प्राप्त कर ली है, वहाँ उसके साथ-साथ जनता के विरुद्ध घोर प्रतिक्रियावादी क़दम उठाये गये हैं। इस घटना से क्षुब्ध होकर, कौबेट जैसे अनेक लोकप्रिय लेखक भविष्य को छोड़, अतीत में लोक-स्वातन्त्र्य की खोज करने लगे हैं।

वैधानिक बादशाहत और एकाधिकारी आर्थिक स्वार्थों की यह एकता ईस्ट इण्डिया कम्पनी और १६८८ की महान् क्रान्ति का यह गठबन्धन, उसी शक्ति की प्रेरणा से हुआ था जो सभी युगों में और सभी देशों में उदारवादी हितों और उदार राजवंशों को मिलाती और जोड़ती रही है। हमारा मतलब भ्रष्टाचार की शक्ति से है जो वैधानिक बादशाहत की पहली और अन्तिम प्रेरक शक्ति होती है और जो विलियम तृतीय के लिये संरक्षण करने वाली दैवी शक्ति तथा लुई फ़िलिप के लिये प्राणघाती आसुरी माया सिद्ध हुई थी। १६९३ में ही, पार्लामेण्ट की ओर से की गई जाँच-पड़ताल में यह बात साफ़ हो गई थी कि शासक लोगों को दी गई "भेंट" की मद में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का वार्षिक खर्च, जो क्रान्ति के पहले शायद ही कभी १,२०० पौण्ड से ज़्यादा होता था, उस वक्त तक ९०,००० पौण्ड तक

पहुँच गया था। लीड्स के ड्यूक पर पार्लामेण्ट ने ५,००० पौण्ड की घूस लेने के लिये मुक़दमा चलाया था और स्वयं धर्मनिष्ठ राजा पर १०,००० पौण्ड लेने का अभियोग सिद्ध हो गया था। इन प्रत्यक्ष रिश्वतों के अलावा, बहुत ही कम सूद पर सरकार को भारी रक़में क़र्ज़ में देने का लालच दिखा कर एक कम्पनी अपनी प्रतिद्वन्द्वी कम्पनियों को मैदान से हटवा देती थी, या उनके डायरेक्टरों को खरीद लेती थी।

'बैंक ऑफ इंग्लैण्ड' की भाँति, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी सरकार को रिश्वत देकर जो शक्ति प्राप्त की, उसे क़ायम रखने के लिये कम्पनी को बैंक की ही भाँति बार-बार रिश्वत देनी पड़ती थी। हर उस मौक़े पर, जब उसके एकाधिकार का काल समाप्त होने को आया तो, उसे अपने चार्टर को फिर से जारी कराने के लिये सरकार को नये क़र्ज़े और नये तोहफ़े देने पड़े।

सप्त वर्षीय युद्ध की घटनाओं ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को एक व्यापारिक शक्ति से एक सैनिक एवं प्रादेशिक शक्ति में बदल दिया। उस समय ही वर्तमान ब्रिटिश साम्राज्य की पूरब में नींव पड़ी। तब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हिस्सों की क़ीमत बढ़कर २६३ पौण्ड तक पहुँच गई और मुनाफ़ा साढ़े १२ प्रतिशत की दर पर बाँटा गया। परन्तु, तभी कम्पनी का एक नया शत्रु प्रकट हुआ—प्रतिद्वन्द्वी कम्पनियों के रूप में नहीं, बल्कि प्रतिद्वन्द्वी मन्त्रिमण्डलों और प्रतिद्वन्द्वी जनता के रूप में। कहा गया कि कम्पनी जिन इलाक़ों पर राज करती है वे ब्रिटिश समुद्री बेड़े तथा ब्रिटिश सेनाओं की मदद से जीते गये थे। कहा गया कि ब्रिटिश प्रजा का कोई सदस्य बादशाह से स्वतन्त्र रहते हुए किसी इलाक़े पर राज नहीं कर सकता। उस ज़माने के मन्त्रियों और आम लोगों ने मांग की कि पिछली जीतों से जो "अद्भुत ख़ज़ाने" हाथ लगे होंगे; उनमें उनका भी हिस्सा होना चाहिये। अन्त में, कम्पनी ने १७६६ में यह समझौता करके अपनी जान बचाई कि वह राष्ट्रीय कोष में प्रति वर्ष ४,००,००० पौण्ड देगी।

परन्तु, ईस्ट इण्डिया कम्पनी समझौते को पूरा करने के बजाय आर्थिक कठिनाइयों में फँस गई और इंग्लैण्ड की जनता को नज़राना देने के बदले

पार्लामेण्ट से आर्थिक सहायता मांगने लगी। इस क़दम के परिणाम-स्वरूप चार्टर में कई बड़े परिवर्तन हुए। इधर कम्पनी की हालत सुधर नहीं रही थी, उधर उत्तरी अमरीका के उपनिवेश अंग्रेज जाति के हाथ से निकल गये थे, इसलिये किसी और जगह कोई नया औपनिवेशिक साम्राज्य प्राप्त करने की जरूरत सभी को अधिकाधिक महसूस होने लगी। तब, १७८३ में प्रख्यात मिस्टर फ़ौक्स ने सोचा कि उनके प्रसिद्ध इण्डिया बिल को पेश करने का वक्त आ गया है। इस बिल में डायरेक्टरों और मालिकों के कोर्ट को खतम करके, हिन्दुस्तान सरकार के पूरे अधिकार पार्लामेण्ट द्वारा नियुक्त सात कमिश्नरों को दे देने का प्रस्ताव था। परन्तु, तत्कालीन क्षीणबुद्धि राजा का लार्ड्स सभा पर बड़ा प्रभाव था। उसके कारण, मिस्टर फ़ौक्स का बिल अस्वीकार कर दिया गया, और उसके कारण ही फ़ौक्स तथा लॉर्ड नौर्थ की संयुक्त सरकार का भी पतन हुआ और सुप्रसिद्ध पिट को सरकार का नेतृत्व मिल गया। पिट ने १७८४ में एक बिल पार्लामेण्ट की दोनों सभाओं (लार्ड्स और कामन्स—अनु०) में पास करा लिया। इस बिल के द्वारा एक नियन्त्रण-बोर्ड की स्थापना की गई थी, जिसमें प्रिवी काउंसिल के छः सदस्य थे। उनका काम था कि "ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इलाक़ों और प्रदेशों के नागरिक एवं सैनिक शासन तथा उनके सरकारी आय से सम्बन्धित तमाम कामों, कार्यवाहियों और संस्थाओं की जाँच करेंगे, देखरेख करेंगे और उन पर नियन्त्रण रखेंगे।" इस विषय पर इतिहासकार मिल ने लिखा है :

"उस क़ानून को पास करने के दो उद्देश्य थे। इस आरोप से बचने के लिये कि इस क़ानून का भी वही घृणित उद्देश्य है जो मिस्टर फ़ौक्स के बिल का था, यह आवश्यक था कि कम-से कम देखने में ताक़त का खास हिस्सा डायरेक्टरों के हाथ में रहे। दूसरी ओर, मन्त्रिमण्डल के हित में आवश्यक था कि असल में सारी ताक़त डायरेक्टरों के हाथ से छीन ली जाय। मिस्टर पिट का बिल अपने प्रतिद्वन्द्वी के बिल से ठीक इसी बात में भिन्न था कि

जहाँ वह डायरेक्टरों की ताक़त खतम करता था, वहाँ यह बिल डायरेक्टरों की ताक़त को लगभग ज्यों का त्यों छोड़ देता था। मिस्टर फ़ौक्स के क़ानून के मातहत, ऐलानिया तौर पर ताक़त मन्त्रियों के हाथ में रहती। मिस्टर पिट के क़ानून के मातहत, वही बात गुप्त तरीक़े से और धोखा देकर पूरी होती थी। फ़ौक्स के बिल ने कम्पनी की ताक़त पार्लामेण्ट द्वारा नियुक्त कमिश्नरों को सौंप दी थी। मिस्टर पिट के बिल ने उसे बादशाह द्वारा नियुक्त कमिश्नरों को सौंप दिया।"

अतः १७८३ और १७८४ में पहली बार, इन्हीं सालों में हिन्दुस्तान का सवाल मन्त्रिमण्डलों का सवाल बना था। मिस्टर पिट का बिल पास हो जाने के बाद, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चार्टर फिर से जारी हो गया और हिन्दुस्तान का सवाल बीस सालों के लिये टाल दिया गया। परन्तु, १८१३ में जैकोबिन (फ्रांसीसी क्रान्तिकारी—अनु०)-विरोधी युद्ध ने और १८३२ में नये शासन-सुधार-बिल ने दूसरे तमाम राजनीतिक सवालों को पीछे धकेल दिया।

अस्तु, यह पहला कारण है जिससे हिन्दुस्तान का सवाल, १७८४ के पहले या उसके बाद, कोई बड़ा राजनीतिक सवाल न बन सका, क्योंकि १७८४ के पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अपने अस्तित्व की रक्षा करने और अपना महत्त्व स्थापित करने के लिये संघर्ष करना पड़ रहा था; और उसके बाद, उसके सारे ऐसे अधिकारों को शासक गुट ने छीन लिया जिन्हें वह बिना ज़िम्मेदारी लिये अपने हाथ में ले सकता था। और उसके भी बाद, जब १८१३ में और १८३३ में, चार्टर को फिर से जारी करने का समय आया, तब इंग्लैण्ड की जनता दूसरे कहीं अधिक महत्त्व के सवालों में फँसी हुई थी।

अब हम एक और दृष्टिकोण से समस्या पर विचार करें। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने शुरूआत की थी अपने दलालों के लिये कारखाने और अपने सामान के लिये गोदाम खोल कर। इन कारखानों और गोदामों की हिफ़ाज़त के लिये उसने कई क़िले बनाये। हिन्दुस्तान में अपना राज्य

क़ायम करने और राज्य-कर के ज़रिये भारी मुनाफ़ा कमाने की बात यद्यपि कम्पनी १६८६ से ही सोच रही थी, परन्तु १७४४ तक वह बम्बई, मद्रास और कलकत्ते के आसपास के कुछ अमहत्त्वपूर्ण जिलों पर अधिकार करने के अलावा इस सिलसिले में और कुछ न कर सकी। उसके बाद कर्नाटक के इलाक़े में जो युद्ध छिड़ा, उसका अनेक संघर्षों के बाद यह परिणाम हुआ कि कम्पनी वस्तुतः हिन्दुस्तान के उस भाग की शासक बन गई। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम बंगाल के युद्ध के और क्लाइव[1] की विजयों के हुए, यानी बंगाल, बबार (विहार) और उड़ीसा पर कम्पनी का बाक़ायदा क़ब्ज़ा हो गया। अठारहवीं सदी के अन्तिम वर्षों में और इस सदी के शुरू के सालों में टीपू साहब से लड़ाइयाँ हुईं और उनके परिणामस्वरूप कम्पनी की शक्ति का बहुत विस्तार हुआ और आधीन राज्यों की व्यवस्था का बहुत फैलाव हुआ। उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक में, हिन्दुस्तान की पहली स्वाभाविक सीमा जीत ली गई और रेगिस्तान के ऊपर वाले हिन्दुस्तान में भी कम्पनी घुसी। उस समय तक पूरब में ब्रिटिश साम्राज्य एशिया के उन भागों में नहीं पहुँच पाया था जो हिन्दुस्तान की प्रत्येक बड़ी केन्द्रीय शक्ति का मुख्य स्थान रहे हैं। परन्तु, हिन्दुस्तानी साम्राज्य का सबसे कमज़ोर हिस्सा, जहाँ से उस पर बार-बार हमले होते रहे हैं और नये विजेता आ-आकर पुराने विजेताओं को निकालते रहे हैं—यानी पश्चिमी सरहद—वह अब भी अंग्रेज़ों के हाथ में नहीं आया। १८३६-१८४६ के बीच, सिक्ख और अफ़ग़ान युद्धों के द्वारा तथा पंजाब और सिंध पर जबर्दस्ती क़ब्ज़ा हो जाने के बाद भारतीय महाद्वीप की वर्ण-गत, राजनीतिक एवं सैनिक सीमाओं पर निश्चित रूप से अंग्रेज़ी शासन हो गया। मध्य एशिया से आने वाली किसी भी आक्रमणकारी शक्ति को रोकने के लिये और ईरान की सीमाओं की ओर बढ़ते हुए रूस से बचने के लिये ये इलाक़े एकदम ज़रूरी थे। पिछले दस वर्षों में, अंग्रेज़ों के हिन्दुस्तानी इलाक़े में १,६७,००० वर्ग मील के रक़बे का और

१. शायद मार्क्स का तात्पर्य यहाँ प्लासी के युद्ध से है।

८५,७२,६३० की आबादी का इज़ाफ़ा हो चुका है। जहाँ तक अन्दर का हाल था, सभी देशी रियासतें अब ब्रिटिश इलाक़ों से घिर गई थीं। वे विभिन्न प्रकार से अंग्रेजों की प्रभुता स्वीकार करती थीं और गुजरात और सिंध को छोड़ कर बाक़ी सभी समुद्री तट से कट गयी थीं। जहाँ तक बाहर का सवाल था, हिन्दुस्तान अब समाप्त हो चुका था। इस प्रकार, एक संयुक्त और विशाल ब्रिटिश हिन्दुस्तानी साम्राज्य तो केवल १८४६ से ही क़ायम हुआ है।

इस प्रकार, दो सदियों तक—जब तक कि हिन्दुस्तान की प्राकृतिक सीमाओं तक ब्रिटिश शासन नहीं पहुँच गया—ब्रिटिश सरकार, कम्पनी के नाम में लड़ती रही। अब हम समझ सकते हैं कि इस पूरे काल में, इंग्लैण्ड की विभिन्न पार्टियाँ क्यों चुप्पी साधे रहीं, और यहाँ तक कि वे पार्टियाँ भी खामोश रहीं जिन्होंने संयुक्त हिन्दुस्तानी साम्राज्य में शासन—व्यवस्था के स्थापित हो जाने के बाद शान्ति के बगुलाभगती-गीत शुरू कर देने का निश्चय कर रखा था। जाहिर है, हिन्दुस्तान को अपनी उत्कट उदारता का लक्ष्य बनाने के लिये पहले उस पर क़ब्ज़ा करना ज़रूरी था। इस दृष्टि से, हमारी समझ में यह बात भी आ जानी चाहिये कि चार्टर के फिर से जारी होने के विगत अवसरों की तुलना में आज १८५३ में हिन्दुस्तान के प्रश्न का रूप इतना क्यों बदल गया है।

एक और दृष्टिकोण से समस्या पर विचार करें। हिन्दुस्तान के बारे में क़ानून बनाने के सवाल को लेकर इस समय जो विचित्र संकट पैदा हो गया है, उसे और भी अच्छी तरह से समझने के लिये आवश्यक है कि हिन्दुस्तान के साथ ब्रिटेन के व्यापारिक आदान-प्रदान के इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं पर विचार किया जाय।

रानी एलिज़ाबेथ के शासन-काल में, जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपना काम शुरू किया, तब कम्पनी को हिन्दुस्तान से लाभदायक व्यापार करने के लिये, हर साल ३०,००० पौण्ड की क़ीमत की चाँदी, सोना और विदेशी मुद्रा देश के बाहर भेजने की इजाज़त मिली थी। यह आज्ञा उस

युग की सभी मान्यताओं के विरुद्ध थी। उसके समर्थन में टॉमस मान को "पूर्वी द्वीप-समूह के साथ इंग्लैण्ड के व्यापार का एक विवेचन" लिख कर "व्यापारी व्यवस्था" की इस मूलभूत स्थापना का प्रतिपादन करना पड़ा कि यद्यपि यह सच है कि किसी भी देश का असली धन केवल उसमें पैदा होने वाली बहुमूल्य धातुएँ ही होती हैं, फिर भी उनके निर्यात की अनुमति देने में कोई खतरा नहीं है, यदि हिसाब की चुकती के बाद निर्यात करने वाले देश को ही सदा लाभ रहे। इस दृष्टि से, उसका कथन था, पूर्वी द्वीप-समूह से जो माल इंग्लैण्ड में आता है, वह अधिकतर यहाँ से दूसरे देशों को भेज दिया जाता है और उनसे इंग्लैण्ड को जो सोना-चांदी मिलता है वह इस माल की हिन्दुस्तान में दी गयी क़ीमत से कहीं अधिक होता है। इसी भावना के साथ, सर जोशुआ चाइल्ड ने एक निबन्ध लिखा जिसका शीर्षक था: "एक निबन्ध जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि पूर्वी द्वीप-समूह से व्यापार हमारा सबसे राष्ट्रीय व्यापार है। धीरे-धीरे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समर्थकों का साहस बढ़ता गया और यहाँ हम इस अनोखे हिन्दुस्तानी इतिहास की इस अनोखी बात का भी जिक्र कर दें कि इंग्लैण्ड में स्वतन्त्र व्यापार का उपदेश देना सबसे पहले हिन्दुस्तानी इजारेदारों ने शुरू किया था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मामलों में पार्लमेण्ट हस्तक्षेप करे, यह मांग इसके बाद अठारहवीं सदी के अन्त में उठी। इस बार व्यापारी वर्ग ने नहीं, बल्कि औद्योगिक वर्ग ने यह मांग उठाई। कहा गया कि हिन्दुस्तान से आने वाला सूती और रेशमी कपड़ा बेचारे अंग्रेज कारखानेदारों को चौपट किये डाल रहा है। जौन पोलेक्सफ़ेन ने इस विषय पर एक पुस्तिका लिख डाली जिसका शीर्षक था: 'इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान की औद्योगिक असंगतियाँ, लन्दन, १६६७।' एक शताब्दी बाद शीर्षक की सत्यता एक अनोखे ढंग से, परन्तु बिलकुल एक दूसरे अर्थ में सिद्ध भी हो गयी। इस काल में पार्लमेण्ट ने हस्तक्षेप भी किया। विलियम तृतीय के शासन काल में १०वें अध्याय के ११वें और १२वें कानूनों के द्वारा तै कर लिया गया कि हिन्दुस्तान, ईरान और चीन से आने वाला कढ़ा हुआ रेशमी

तथा छपा हुआ या रंगा हुआ सूती कपड़ा पहनने पर रोक लगा दी जाय और जो लोग ऐसा कपड़ा बेचें या अपने पास रखें उन पर २०० पौण्ड का जुर्माना किया जाय। जॉर्ज प्रथम, द्वितीय और तृतीय के शासन काल में भी, अंग्रेज कारखानेदारों की चीख-पुकार के परिणाम-स्वरूप, जो कि उस वक्त तक बड़े 'उदार' बन गये थे, इस तरह के कई क़ानून बनाये गए और इस प्रकार अठारहवीं सदी के अधिकांश भाग में, हिन्दुस्तान का बना माल, आम तौर पर, यूरोप में बेचने के लिए इंग्लैण्ड लाया जाता था और खुद इंग्लैण्ड के बाजारों से उसे एकदम बाहर रखा जाता था।

लालची देशी कारखानेदारों की मांग पर पार्लामेण्ट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मामलों में इस प्रकार जो हस्तक्षेप किया, उसके अलावा, चार्टर को फिर से जारी करने का जब-जब अवसर आया, तब-तब लन्दन, लिवरपूल और ब्रिस्टल के व्यापारियों ने कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार को तोड़ने की कोशिश की, ताकि उन्हें भी उस व्यापार में हिस्सा बँटाने का मौक़ा मिले जिसे सोने की खान समझा जाता था। इन कोशिशों का यह नतीजा हुआ कि १७७३ के क़ानून में, जिसके द्वारा कम्पनी का चार्टर मार्च १८१४ तक बढ़ाया गया था, ब्रिटेन के नागरिकों को व्यक्तिगत रूप से हर प्रकार का माल इंग्लैण्ड के बाहर भेजने और कम्पनी के हिन्दुस्तानी कर्मचारियों को हर प्रकार का माल हिन्दुस्तान से इंग्लैण्ड लाने की इजाजत दे दी गई। परन्तु, इस इजाजत के साथ इस तरह की शर्तें लगा दी गईं कि जहाँ तक अंग्रेज व्यापारियों के व्यक्तिगत रूप से ब्रिटिश हिन्दुस्तान को माल भेजने का सवाल था, यह इजाजत बेमानी हो गई। १८१३ में, कम्पनी के लिये आम व्यापारियों के दबाव के सामने और डटे रहना असम्भव हो गया और चीनी व्यापार पर तो उसका एकाधिकार क़ायम रहा, पर हिन्दुस्तान का व्यापार, कुछ शर्तों के साथ सभी व्यापारियों के लिये खुल गया। १८३३ में चार्टर के फिर से जारी होने के समय, ये आखिरी शर्तें भी खतम कर दी गईं, कम्पनी को किसी भी प्रकार का व्यापार करने से रोक दिया गया, उसके व्यापारी रूप का ही अन्त कर दिया गया और ब्रिटिश नागरिकों को

हिन्दुस्तानी इलाकों से बाहर रखने का उसका विशेषाधिकार समाप्त हो गया।

इस बीच, भारत के व्यापार में कई बड़े गम्भीर परिवर्तन हो चुके थे, जिनसे इस व्यापार के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड के विभिन्न स्वार्थों की स्थिति बिलकुल बदल गई थी। पूरी १८वीं सदी में, हिन्दुस्तान से जो दौलत इंग्लैण्ड आई, वह व्यापार से बहुत कम प्राप्त हुई थी, क्योंकि तब व्यापार का महत्त्व बहुत नहीं था। वह अधिकतर हिन्दुस्तान के प्रत्यक्ष शोषण से प्राप्त हुई थी और बेतहाशा लूट-मार मचाकर और जबर्दस्ती पैसा छीनकर बटोरी गई थी। १८१३ में, हिन्दुस्तानी व्यापार के सबके लिये खुल जाने के बाद, थोड़े ही समय के अन्दर यह व्यापार पहले से तिगुना हो गया। यही नहीं। इस व्यापार का पूरा रूप बदल गया। १८१३ तक, हिन्दुस्तान मुख्यतः निर्यात करने वाला, यानी विदेशों को माल भेजने वाला देश था। अब वह दूसरे देशों से माल मंगाने वाला मुल्क बन गया। और, यह परिवर्तन इतनी जल्दी हुआ कि मुद्रा-विनिमय की दर जो पहले, आम तौर पर, २ शिलिंग ६ पेंस फ़ी रुपया हुआ करती थी, १८२३ में घट कर २ शिलिंग फ़ी रुपया रह गई। हिन्दुस्तान, जो अत्यन्त प्राचीन काल से सारी दुनिया को सूती कपड़ा बना कर दिया करता था, अब अंग्रेज़ी सूत और अंग्रेज़ी कपड़े से पाट दिया गया। हिन्दुस्तानी माल को तो इंग्लैण्ड में आने से रोक दिया गया, या उस पर तरह-तरह के बहुत ही निर्मम बन्धन लगा दिये गये, पर स्वयं उसके बाज़ारों में ब्रिटिश माल की, जिस पर बहुत ही कम या नाम-मात्र की चुंगी लगती थी, बाढ़ सी आ गई। इसके परिणामस्वरूप हिन्दुस्तान का अपना कपड़े का व्यवसाय, जो एक समय अत्यन्त प्रसिद्ध था, एकदम तबाह हो गया। १७८० में ब्रिटेन और आयरलैण्ड से हिन्दुस्तान जाने वाले माल की क़ीमत केवल ३,८६,१५२ पौण्ड होती थी। उसी साल इंग्लैण्ड से १५,०४१ पौण्ड की क़ीमत का सोना-चांदी बाहर गया। और, उस वर्ष इंग्लैण्ड से बाहर जाने वाले कुल माल की क़ीमत १,२६,४८,६१६ पौण्ड रही, अर्थात् हिन्दुस्तान से होने

वाला व्यापार इंग्लैण्ड के कुल विदेशी व्यापार का बत्तीसवाँ भाग था। १८५० में ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैण्ड से हिन्दुस्तान भेजे गये कुल माल की क़ीमत ८०,२४,००० पौण्ड थी, जिसमें से अकेले सूती माल की क़ीमत ५२,२०,००० पौण्ड होती थी, अर्थात् १८५० तक, हिन्दुस्तान जाने वाले सूती सामान की क़ीमत, विदेशों को जाने वाले कुल सूती सामान की एक-चौथाई हो गई थी। परन्तु, अब ब्रिटेन की कुल आबादी का आठवाँ हिस्सा सूती उद्योग में लगा हुआ था और ब्रिटेन की कुल राष्ट्रीय आय का बारहवाँ भाग इस उद्योग से आता था। प्रत्येक व्यापारिक संकट के आने के साथ-साथ ब्रिटेन के सूती उद्योगपतियों के लिये भारत के व्यापार का महत्त्व अधिकाधिक बढ़ता गया और हिन्दुस्तानी महाद्वीप वस्तुतः उसका सबसे अच्छा बाज़ार बन गया। जिस तेज़ी से ग्रेट ब्रिटेन की पूरी सामाजिक व्यवस्था के लिये सूती उद्योगपतियों का महत्त्व बढ़ता गया, उसी तेज़ी से ब्रिटिश सूती उद्योग के लिये हिन्दुस्तान का महत्त्व भी बढ़ता गया।

इस समय तक, हिन्दुस्तान को अपनी जागीर बना डालने वाले ब्रिटिश धनिक वर्ग के, अपनी सेनाओं के द्वारा उसे जीतने वाले शासक-गुट के और अपने कपड़े से उसे पाट देने वाले कारखानेदार वर्ग के हित एक-साथ रहे थे। परन्तु, जैसे-जैसे ब्रिटेन के उद्योग-धन्धों की शान्ति और अशान्ति हिन्दुस्तानी बाज़ारों पर निर्भर रहने लगी, वैसे-वैसे यह ख़याल ज़ोर पकड़ने लगा कि हिन्दुस्तान के देशी धन्धों को चौपट करने के बाद अब वहाँ नई उत्पादक शक्तियाँ पैदा करना आवश्यक है। आप किसी देश को अपने माल से तब तक लगातार नहीं पाटते रह सकते जब तक कि इस माल के बदले में कुछ देने की सामर्थ्य आप उस देश में न पैदा कर दें। अतः कारखानेदारों ने महसूस किया कि उनका व्यापार बढ़ने के बजाय घट रहा है। १८४३ से १८४६ तक, चार वर्षों में ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान को २६ करोड़ १० लाख रुपये का माल भेजा था। १८४७ से १८५० तक के चार वर्षों में, केवल २५ करोड़ ३० लाख रुपये का माल हिन्दुस्तान गया।

पहले चार वर्षों में २७ करोड़ ४० लाख रुपये का माल हिन्दुस्तान से ब्रिटेन आया था; बाद के चार वर्षों में केवल २५ करोड़ ४० लाख रुपये का माल आया। कारखानेदारों को पता लगा कि हिन्दुस्तान में उनके माल को खपाने की शक्ति और सभी देशों से कम रह गई है। मालूम हुआ कि ब्रिटिश पश्चिमी द्वीप-समूह में प्रत्येक निवासी प्रति वर्ष १४ शिलिंग की क़ीमत का अंग्रेज़ी माल इस्तेमाल करता है, चिली में ६ शिलिंग ३ पेंस का, ब्राज़ील में ६ शिलिंग ५ पेंस का, क्यूबा में ६ शिलिंग २ पेंस का, पीरू में ५ शिलिंग ७ पेंस का और मध्य अमरीका में १० पेंस का, जबकि हिन्दुस्तान का प्रत्येक निवासी केवल ६ पेंस का अंग्रेज़ी माल इस्तेमाल करता है। इसके बाद १८५० में, अमरीका में कपास की फ़सल खराब हो गई, जिससे अंग्रेज़ कारखानेदारों को १,१०,००,००० पौण्ड का नुक़सान हुआ और उनमें इस बात पर बड़ी खीझ पैदा हुई कि पूरबी देशों से काफ़ी कपास मंगाने के बजाय उन्हें अमरीका पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके अलावा, उन्होंने यह भी देखा कि जब कभी वे हिन्दुस्तान में पूँजी लगाने की कोशिश करते हैं तो हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ अधिकारी क़ानूनी खुड़-पेंच लगाते हैं और उनके रास्ते में तरह-तरह की बाधाएँ खड़ी करते हैं। इस प्रकार, एक ओर औद्योगिक स्वार्थों और दूसरी ओर धनिक वर्ग तथा शासक-गुट के बीच जो संघर्ष चल रहा था, हिन्दुस्तान उसकी रणभूमि बन गया। कारखानेदार समझने लगे हैं कि अब इंग्लैण्ड पर उनका प्रभुत्व है और वे मांग कर रहे हैं कि उनकी विरोधी शक्तियों को हिन्दुस्तान से भी मिटा दिया जाय, हिन्दुस्तानी सरकार का सारा पुराना ढाँचा खत्म कर दिया जाय और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शक्ति सर्वथा नष्ट कर दी जाय।

और अब, उस चौथे और अन्तिम दृष्टिकोण को लीजिये जिससे हिन्दुस्तान के सवाल पर विचार करना आवश्यक है। १७८४ से हिन्दुस्तानी सरकार अधिकाधिक आर्थिक कठिनाइयों में फँसती जा रही है। राष्ट्रीय कर्ज़ ५ करोड़ पौण्ड तक पहुँच गया है। सरकारी आमदनी के ज़रिये लगातार कम होते जा रहे हैं और खर्च उसी मात्रा में बढ़ता जा रहा है।

उसे पूरा किया जाता था अफ़ीम-कर की अनिश्चित आय से। पर, अब वह भी खतरे में है क्योंकि चीनी खुद अफ़ीम की खेती करने लगे हैं। ऊपर से, वर्मा से व्यर्थ के युद्ध से खर्च और बढ़ जाने की आशंका है। मिस्टर डिकिन्सन के कथनानुसार, "जैसी परिस्थिति है उसमें हिन्दुस्तान में अपने साम्राज्य को खो देने पर इंग्लैण्ड जैसे तबाह होगा, वैसे ही इस साम्राज्य को क़ायम रखने में वह तबाह हुआ जा रहा है।"

अस्तु, मैंने यह बता दिया कि १७८३ के बाद पहली बार, आज हिन्दुस्तान का सवाल क्यों इंग्लैण्ड का सवाल और मन्त्रिमण्डल का सवाल बन गया है।

हिन्दुस्तान की सरकार[1]

लन्दन, मंगलवार, ५ जुलाई, १८५३।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक अफ़सर, मिस्टर हैलीडे ने, एक जाँच-कमिटी के सामने बयान देते हुए कहा था : "जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बीस वर्षों का ठेका देते हुए चार्टर जारी किया गया तो हिन्दुस्तान के रहने वालों ने समझा कि उन्हें किराये पर उठा दिया गया है।" इस बार कम से कम इतना हुआ है कि चार्टर को किसी निश्चित अवधि के लिये नहीं जारी किया गया है, बल्कि पार्लामेण्ट उसे कभी भी रद्द कर सकती है। अतएव, अब कम्पनी मौरूसी काश्तकार के सम्मानप्रद पद से उतर कर कच्चे काश्तकार की नाज़ुक स्थिति में आ गई है। इससे हिन्दुस्तानियों का तो खैर कुछ लाभ ही है। संयुक्त मन्त्रिमण्डल दूसरे सब सवालों की तरह, हिन्दुस्तान-सरकार के सवाल को भी एक खुला सवाल बनाने में कामयाब हो गया है। दूसरी ओर, कामन्स सभा ने, क़ानून बनाने की अपनी अयोग्यता और क़ानून बनाना स्थगित करने की अपनी अनिच्छा, दोनों को एक ही निश्चय के द्वारा प्रकट करके अपनी निर्बलता का एक और परिचय दे दिया है।

राज कौन करे?—अरस्तू के समय से ही, इस विषय पर लिखे गये युक्तिपूर्ण अथवा हास्यास्पद निबन्धों की दुनिया में भरमार रही है। परन्तु, इतिहास में यह पहली बार हुआ है कि १५ करोड़ ६० लाख इन्सानों की

१. न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून, २० जुलाई, १८५३।

१३,६८,११३ वर्ग मील के क्षेत्र में फैली हुई एक जाति पर राज करने वाली एक अन्य जाति की प्रतिनिधि-सभा सार्वजनिक रूप से और गम्भीरता के साथ इस अजीब सवाल का जवाब देने बैठी हो कि—हममें से वास्तव में कौन १५ करोड़ की उस विदेशी जाति पर राज कर रहा है? ब्रिटिश पार्लामेंट में कोई ऐसा लालबुझक्कड़ न था जो इस पहेली को बूझ सकता। सारी बहस इसी एक सवाल को लेकर होती रही। वोट तक लिये गये, पर हिन्दुस्तान-सरकार की कोई परिभाषा न की जा सकी।

यह बात १८५३ की बहसों में, १८३३ की बहसों में, १८१३ की बहसों में, और उसके पहले की भी सब बहसों में बिलकुल साफ़ हो गई थी कि हिन्दुस्तान-सरकार स्थायी रूप से घाटे में चल रही है; वह युद्धों पर जरूरत से ज़्यादा खर्च करती है और सार्वजनिक निर्माण-कार्य पर बिलकुल खर्च नहीं करती; उसकी कर-प्रणाली बहुत ही निकृष्ट ढंग की है और न्याय तथा व्यवस्था क़ायम करने का ढंग भी उससे कम बुरा नहीं है। यह बात भी इन बहसों में बिलकुल साफ़ हो गई थी कि ये पाँच अवगुण मानो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर के पाँच सूत्र हैं। जिस एक बात का कभी पता नहीं चला, वह यह थी कि इस हालत के लिये जिम्मेदार कौन है?

हिन्दुस्तान का एक गवर्नर-जनरल है, जिसके हाथ में सर्वोच्च शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु खुद इस गवर्नर-जनरल के ऊपर इंग्लैण्ड की देशी सरकार शासन करती है। यह देशी सरकार कौन है? क्या हिन्दुस्तानी मामलों के उस मन्त्री को सरकार समझा जाय जो नियन्त्रण-बोर्ड के अध्यक्ष के सामान्य पद के आवरण के पीछे से शासन करता है? या ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चौबीस डायरेक्टरों को सरकार समझा जाय? हिन्दुस्तानियों के धर्म के प्रवेश-द्वार पर हमें एक दैविक त्रिमूर्ति के दर्शन होते हैं। उसी प्रकार, हिन्दुस्तान-सरकार के प्रवेश-द्वार पर एक अपवित्र त्रिमूर्ति विराजमान है।

गवर्नर-जनरल को यदि थोड़ी देर के लिये छोड़ दिया जाय तो सवाल दोहरी सरकार का बन जाता है। इंग्लैण्डवासियों के दिमाग़ों में भी सवाल

मा०—५

का यही रूप है। मन्त्रिमण्डल अपने बिल में और क़ामन्स सभा वोट के समय इस दोहरेपन से लिपटी रही हैं।

जब इंग्लैण्ड के दुस्साहसी व्यापारियों की कम्पनी, जिसने रुपया बनाने के उद्देश्य से हिन्दुस्तान को जीता था, अपने कारख़ानों को बढ़ा कर साम्राज्य का रूप देने लगी, और जब डच तथा फ्रांसीसी व्यक्तिगत व्यापारियों के साथ उसकी प्रतियोगिता राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता का रूप धारण करने लगी, तब, ज़ाहिर है, ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू किया और नाम को न सही, पर यथार्थ में तो अवश्य ही, हिन्दुस्तान की दोहरी सरकार का जन्म हुआ। १७८४ के पिट के क़ानून ने कम्पनी से समझौता करके, उस पर नियन्त्रण-बोर्ड का अधिकार क़ायम करके और नियन्त्रण-बोर्ड को मन्त्रिमण्डल का पुछल्ला बना कर, परिस्थितियों से उत्पन्न इस दोहरी सरकार को यथार्थ में भी और नाम में भी पूरी तरह स्वीकार कर लिया और उसे नियम-बद्ध तथा व्यवस्थित रूप दे दिया।

१८३३ के क़ानून ने नियन्त्रण-बोर्ड के हाथ मज़बूत किये, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मालिकों को कम्पनी के महज़ रेहनदारों में बदल डाला, कम्पनी को अपने हिस्से बेच देने का हुक्म सुनाया, उसके व्यापारिक अस्तित्व का अन्त कर दिया, और जहाँ तक उसके राजनीतिक अस्तित्व का सम्बन्ध था, उसे बादशाह का एक प्रतिनिधि मात्र बना दिया। इस प्रकार, इस क़ानून ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ वही किया जो कम्पनी हिन्दुस्तान के देशी राजाओं के साथ करती आई थी। वह देशी राजाओं के अधिकार छीनने के बाद भी कुछ समय तक उनके नाम में राज करती रहती थी। १८३३ से लेकर अब तक, उसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अस्तित्व केवल नाम के लिये है और वह दूसरों की दया पर निर्भर है। इसलिये, जहाँ एक ओर कम्पनी से छुटकारा पाने में कोई कठिनाई नहीं मालूम पड़ती, वहाँ दूसरी ओर यह तै करना सचमुच बड़ा कठिन मालूम होता है कि अंग्रेज़ जाति हिन्दुस्तान पर महारानी विक्टोरिया के व्यक्तिगत

नाम पर राज करती है, या एक बे-नाम समुदाय की परम्परागत फ़र्म के ज़रिये शासन करती है। अतः पूरा सवाल एक ऐसी बारीकी को लेकर उठता है जिसको बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। फिर भी, प्रश्न इतना सरल नहीं है।

पहले यह बताना आवश्यक है कि जिस प्रकार लीडेन हाल स्ट्रीट में रहने वाली ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक कल्पना मात्र है, उसी प्रकार मन्त्रि-मण्डल का कैनन रो में स्थित नियन्त्रण-बोर्ड भी वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं रखता। नियन्त्रण-बोर्ड के सदस्य एक आवरण मात्र हैं; असली शक्ति बोर्ड के अध्यक्ष के हाथों में रहती है। अध्यक्ष खुद शाही मन्त्रिमण्डल का एक छोटा परन्तु स्वतन्त्र सदस्य होता है। हिन्दुस्तान में शायद यह विचार प्रचलित है कि जो आदमी किसी भी काम के योग्य न हो, उसे जज बना देना चाहिये ताकि उससे छुटकारा मिल जाय। ब्रिटेन में जब किसी पार्टी के हाथ में शासन आता है और उसे किसी फटीचर "राजनीतिज्ञ" के लिये काम तलाश करना पड़ता है; तो उससे पीछा छुड़ाने का सबसे अच्छा उपाय यह समझा जाता है कि उसे नियन्त्रण-बोर्ड का अध्यक्ष, यानी मुग़ल बादशाहों का उत्तराधिकारी, बना दिया जाय।

क़ानून की शब्दावली पर विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि उसने नियन्त्रण-बोर्ड को—जिसका असल में मतलब होता है कि बोर्ड के अध्यक्ष को—"ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इलाक़ों और प्रदेशों के नागरिक एवं सैनिक शासन तथा उनकी सरकारी आय से सम्बन्धित तमाम कामों, कार्यवाहियों और संस्थाओं की जाँच करने, देखरेख करने और उन पर नियंत्रण रखने का पूरा अधिकार और शक्ति" दे दिये हैं। डायरेक्टरों पर प्रति-बन्ध लगा दिया गया है कि वे "हिन्दुस्तान से, या वहाँ की सरकार से सम्बन्धित कोई आज्ञा, आदेश, परिपत्र, राजपत्र अथवा सूचना उस वक्त तक नहीं निकाल सकते जब तक कि बोर्ड उसकी अनुमति न दे दे।" डायरेक्टरों को आदेश दिया गया है कि उन्हें "किसी भी विषय पर" बोर्ड से आज्ञा मिलने पर या तो चौदह दिन के भीतर उसके अनुसार

आदेश या आज्ञापत्र तैयार कर देने चाहिये, या हिन्दुस्तान के विषय में बोर्ड के आदेशों को तुरन्त वहाँ भेज देना चाहिये।" बोर्ड को अधिकार है कि वह हिन्दुस्तान से आने वाले या वहाँ जाने वाले तमाम पत्रों और सूचनाओं को और मालिकों तथा डायरेक्टरों के कोर्ट की बैठकों की कार्यवाहियों को देख सकता है। अन्त में, डायरेक्टरों की कोर्ट को एक गुप्त कमिटी बनाने का आदेश दिया गया है जिसमें कोर्ट का अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और एक पुराना सदस्य होता है। इस कमिटी को सरकारी भेदों को गुप्त रखने की शपथ लेनी पड़ती है। बोर्ड का अध्यक्ष सभी राजनीतिक एवं सैनिक विषयों पर अपने व्यक्तिगत आदेश उसके द्वारा हिन्दुस्तान भेजता है। कमिटी को इस मामले में सूचना भेजने के साधन के रूप में काम करने के अतिरिक्त और कोई अधिकार नहीं हैं। अफ़ग़ान और बर्मी युद्धों के सम्बन्ध में तथा सिंध पर क़ब्ज़ा करने के बारे में, इसी गुप्त कमिटी के ज़रिये आदेश भेजे गये थे, और जैसे साधारण लोगों को या पार्लामेण्ट को उनकी कोई सूचना नहीं दी गई थी, वैसे ही डायरेक्टरों की कोर्ट को भी उसके बारे में कुछ नहीं बताया गया था। अतः यहाँ तक नियन्त्रण-बोर्ड के अध्यक्ष के अधिकार मुग़ल बादशाह के बराबर ही मालूम होते हैं और हर परिस्थिति में वह हद दर्जे की शरारत कर सकता है। उदाहरण के लिये, वह अत्यन्त विनाशकारी युद्ध छिड़वा सकता है और सब कुछ करते हुए भी डायरेक्टरों की कोर्ट के नाम के पीछे छिपा रह सकता है। दूसरी ओर, डायरेक्टरों की कोर्ट के हाथों में भी कम ताक़त नहीं है। वह चूँकि शासन-प्रबन्ध के मामलों में पहलक़दमी करता है, और चूँकि नियन्त्रण-बोर्ड की तुलना में वह एक अधिक स्थायी और जमी हुई संस्था है जिसके काम करने के ढंग पहले से ही बने बनाये होते हैं और जिसे मामलों की कुछ तफ़सील से जानकारी होती है, इसलिये अन्दरूनी शासन-प्रबन्ध का साधारण काम सारा का सारा लाज़िमी तौर पर उसी के हिस्से में पड़ता है। हिन्दुस्तान-सरकार के सर्वोच्च अधिकारी गवर्नर-जनरल और उसके काउंसिल के सदस्यों को भी कोर्ट ही बादशाह की अनुमति से नियुक्त करती है।

इसके अतिरिक्त, उसे सर्वोच्च अधिकारियों को, और यहाँ तक कि गवर्नर-जनरल को भी वापस बुला लेने का पूरा अधिकार है। उदाहरण के लिये, सर रौबर्ट पील के ज़माने में कोर्ट ने लार्ड एलेन वरो को वापस बुला लिया था। परन्तु, यह भी डायरेक्टरों का सबसे महत्वपूर्ण अधिकार नहीं है। उनकी तनख़ा केवल ३०० पौण्ड सालाना होती है। पर, उनकी असली तनख़ा नौकरियाँ और पदवियाँ बाँटने का उनका अधिकार है। तमाम उम्मीदवार-कर्मचारियों को वे ही नियुक्त करते हैं, और गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तों के गवर्नरों के लिये ज़रूरी होता है कि जिन ऊँचे पदों पर हिन्दुस्तानियों को नियुक्त नहीं किया जाता, उन्हें इन्हीं उम्मीदवारों से भरा जाय। जब यह मालूम हो जाता है कि साल भर में कितनी नियुक्तियाँ की जायेंगी तो सबको अट्ठाईस बराबर-बराबर हिस्सों में बाँट लिया जाता है। उनमें से दो हिस्से अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के होते हैं, दो नियन्त्रण-बोर्ड के अध्यक्ष के, और एक प्रत्येक डायरेक्टर का। प्रत्येक हिस्से की वार्षिक कीमत प्रायः १४,००० पौण्ड से कम नहीं होती। मिस्टर कैम्पबेल के कथनानुसार : "सभी नामज़दगियाँ अब मानों कुछ व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति बन गई हैं। उन्हें डायरेक्टरों के बीच बाँट दिया गया है, जिनमें से हरेक अपनी इच्छानुसार अपने हिस्से की नियुक्तियों का वितरण करता है।" हिन्दुस्तान के सभी ऊँचे अधिकारी चूँकि एडिसकौम्बे और हालेबरी के स्कूलों में शिक्षा प्राप्त किये हुए होते हैं और चूँकि उनकी नियुक्ति डायरेक्टरों की मेहरबानी से हुई होती है, इसलिये ज़ाहिर है कि उन सभी में वही भावना कूट-कूट कर भरी होती है जो डायरेक्टरों की कोर्ट में पाई जाती है। यह बात भी स्पष्ट है कि डायरेक्टरों की इस कोर्ट पर, जो हर साल लगभग ४ लाख पौण्ड की कीमत की नियुक्तियाँ ब्रिटेन के ऊपरी वर्गों के लोगों में बाँटता है, जनमत कोई बन्धन नहीं रख पाता क्योंकि इन्हीं ऊपरी वर्गों के लोग जनमत को बनाते हैं। डायरेक्टरों की कोर्ट की भावना से मेरा क्या मतलब है, यह मैं अपने अगले ख़त में बताऊँगा, जिसमें मैं हिन्दुस्तान की वास्तविक हालत की चर्चा करूँगा। फ़िलहाल इतना कह देना काफी

होगा कि हाल की बहसों के दौरान में, कोर्ट की हिमायत में बोलते हुए, मिस्टर मैकौले ने यह तर्क दिया था कि कोर्ट में इतनी शक्ति नहीं है कि वह अपने सारे बुरे इरादों को अमल में ला सके—यहाँ तक कि अब तक जितने सुधार हुए हैं, वे सब उसके विरोध के बावजूद हुए हैं और उन्हें ऐसे गवर्नरों ने किया है जो अपनी व्यक्तिगत जिम्मेदारी पर और कोर्ट की अवहेलना करके करते थे। सती प्रथा को बन्द करने, देश के अन्दर आने-जाने वाले माल पर लगी हुई बेहूदा चुंगी को खतम करने और हिन्दुस्तान के अखबारों तथा छापेखानों को आज़ादी देने के सुधार इसी ढंग से हुए।

अतः यदि नियंत्रण-बोर्ड का अध्यक्ष डायरेक्टरों की कोर्ट की आड़ में हिन्दुस्तान को सत्यानाशी युद्धों में फँसा देता है तो डायरेक्टरों की कोर्ट नियंत्रण-बोर्ड की आड़ में हिन्दुस्तान के अधिकारियों को भ्रष्टाचार सिखाता है।

इस असंगतियों से भरी हुई सरकार के ढाँचे पर जरा और बारीकी से विचार किया जाय तो पता चलता है कि इसकी तह में एक तीसरी शक्ति मौजूद है जो बोर्ड या कोर्ट दोनों से अधिक बलवान, अधिक ग़ैरज़िम्मेदार और जनता से अधिक छिपी हुई तथा जनता की देखरेख से परे रहने वाली शक्ति है। बोर्ड का अध्यक्ष, जो आज आया कल गया, कैननरो के अपने दफ़्तर में जमे क्लर्कों पर निर्भर रहता है, और इन क्लर्कों के लिये हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान में नहीं, लेडेनहाल स्ट्रीट में होता है। अब सवाल यह उठता है कि लेडेनहाल स्ट्रीट में किसकी चलती है।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के २५ डायरेक्टरों को कम्पनी के हिस्सेदार, दो हज़ार निकम्मे बूढ़े-बुढ़ियाएँ चुनती हैं, जिनकी हिन्दुस्तान में इसके सिवा और कोई दिलचस्पी नहीं कि हिन्दुस्तान की सरकारी आमदनी में से उनके मुनाफ़े का हिस्सा लगता है। डायरेक्टर होने के लिये इसके सिवा और कोई योग्यता आवश्यक नहीं है कि कम्पनी के १,००० पौंड के हिस्से अपने पास हों। व्यापारी, बैंकर और विभिन्न कम्पनियों के डायरेक्टर तरह-तरह की तकलीफ़ें उठा कर कोर्ट में घुसने की कोशिश करते हैं, ताकि वहाँ

जाकर अपनी निजी कम्पनियों का हित-साधन कर सकें। मिस्टर ब्राइट के कथनानुसार : "लन्दन के एक बैंकर के हाथ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ३०० वोटें हैं, इसलिए डायरेक्टरों के चुनाव में उसका एक शब्द भी अनुल्लंघनीय क़ानून का काम करता है।" अतएव, डायरेक्टरों की कोर्ट इंग्लैण्ड के धनिक वर्ग के बैंक की एक शाखा की ही तरह है। यह तथाकथित कोर्ट उपरोक्त गुप्त कमिटी के अतिरिक्त तीन और समितियाँ बनाता है : (१) राजनीतिक एवं सैनिक समिति; (२) अर्थ और गृह समिति; (३) आय, न्याय, एवं क़ानून सम्बन्धी समिति। इन समितियों के लिये सदस्य प्रति वर्ष बारी-बारी से चुने जाते हैं; इस तरह, एक साल एक पूँजीपति न्याय-समिति का सदस्य होता है तो अगले साल वह सैनिक समिति में पहुँच जाता है, और किसी भी सदस्य को लगातार एक ही विभाग की देखरेख करने का अवसर नहीं मिलता। पहले तो डायरेक्टरों के चुनाव का ढंग ऐसा है कि सर्वथा अनुपयुक्त आदमी चुने जाते हैं, फिर उनकी रही-सही योग्यता को बारी-बारी से समितियों में चुनने की प्रथा बेकार कर देती है। तब, डायरेक्टरों के नाम में शासन आखिर चलाता कौन है? शासन चलाती है इंडिया आफ़िस के ग़ैरजिम्मेदार सेक्रेटरियों, क्लर्कों और सुपरवाइज़रों की वह बड़ी फ़ौज, जिसके बारे में मिस्टर कैम्पबैल ने अपनी पुस्तिका—'हिन्दुस्तान-सरकार के लिए एक योजना' में कहा है कि उसमें से केवल एक व्यक्ति हिन्दुस्तान गया है, और वह भी संयोगवश! इसलिये, नियुक्तियों के व्यापार के अलावा ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे डायरेक्टरों की कोर्ट की राजनीति, सिद्धान्त, या कार्य-प्रणाली कहा जा सके। हिन्दुस्तान के असली डायरेक्टर और वहाँ की असली सरकार तो लेडेनहाल स्ट्रीट के दफ्तर में बैठने वाले स्थायी एवं ग़ैरजिम्मेदार नौकरशाह हैं, जो सदा मेज़-कुर्सियों से चिपके रहते हैं और सिफ़ारिशों पर जीते हैं। इस प्रकार वास्तव में, यह एक कार्पोरेशन है जो विशाल साम्राज्य पर राज करता है; उसके सदस्य वेनिस की तरह, अभिजात वर्ग के प्रमुख लोग (पेट्रीशियन) नहीं, बल्कि पुराने

घिसे हुए क्लर्क और कुछ ऐसे ही अन्य लोग होते हैं। अतः कोई आश्चर्य नहीं यदि संसार में कोई ऐसी दूसरी सरकार नहीं है जो हिन्दुस्तान-सरकार से ज़्यादा लिखा-पढ़ी करती हो मगर उससे कम काम करती हो। जब ईस्ट-इण्डिया कम्पनी केवल एक व्यापारिक संस्था थी, तब ज़ाहिर है अन्य व्यापारिक संस्थाओं की तरह, वह भी अपने हर हिन्दुस्तानी कारख़ाने के मैनेजर से हर मामले पर बहुत तफ़सील के साथ रिपोर्ट मंगाती थी। किन्तु, जब कारख़ाने बढ़ते-बढ़ते एक साम्राज्य में बदल गये और व्यापार-सम्बन्धी रिपोर्टें जहाज़ भर-भर कर आने वाले सरकारी दस्तावेज़ों और पत्र-व्यवहार में परिवर्तित हो गईं, तब भी लेडेनहाल के क्लर्कों ने अपना पुराना ढंग ही जारी रखा, जिससे डायरेक्टर लोग और नियंत्रण-बोर्ड सदा उन पर निर्भर रहने लगे, और पूरी सरकार को उन्होंने बड़ी कामयाबी के साथ लिख-लिख कर काग़ज रंगने की एक बड़ी भारी मशीन बना डाला। सरकार की तनख़ा-कमिटी के सामने बयान देते हुए लार्ड ब्राउटन ने बताया था कि एक बार एक सरकारी पत्र के साथ ४५,००० पृष्ठों का एक ख़रीता परिशिष्ट के रूप में जुड़ा हुआ भेजा गया था।

इण्डिया हाउस में किस ढंग से काम होता है और समय को किस निर्दयता के साथ बरबाद किया जाता है, इसे बताने के लिये मैं मिस्टर डिकिन्सन की पुस्तिका से एक अंश उद्धृत करूँगा :

> "जब हिन्दुस्तान से कोई सूचना या पत्र आता है तो पहले उसे तत्सम्बन्धित निरीक्षण विभाग में भेजा जाता है; उसके बाद कमिटियों के अध्यक्ष उस विभाग के प्रमुख अधिकारी से राय लेते हैं कि मोटे तौर पर किस ढंग का जवाब दिया जाय। यह तै करने के बाद, वे जवाब का एक मसौदा सरकार के हिन्दुस्तानी मन्त्री के पास भेजते हैं। इस क्रिया को दफ़्तर की भाषा में पी० सी०, अर्थात् पूर्व पत्र-व्यवहार कहते हैं। पूर्व पत्र-व्यवहार की इस प्रारम्भिक अवस्था में भी, कमिटियों के अध्यक्ष अधिकतर अपने क्लर्कों पर निर्भर रहते हैं। और, यह बात इस हद तक पहुँच गई है कि मालिकों और डायरेक्टरों की कोर्ट के अन्दर

पहले से सूचना दे दिये जाने के बाद भी, जब किसी विषय पर विचार होता है तो यह दृश्य सामने आता है कि अध्यक्ष महोदय पास में बैठे एक सेक्रेटरी से बार-बार राय ले रहे हैं और वह लगातार उनके कान में फुसफुसा रहा है, उन्हें हुक्म दे रहा है और उन्हें कुरेद रहा है, मानो वह उसके अध्यक्ष नहीं महज़ एक कठपुतली हों। और दूसरी तरफ़, मन्त्री महाराज की भी ठीक यही दशा होती है। पूर्व पत्र-व्यवहार की इस अवस्था में यदि मसौदे पर कोई मतभेद सामने आता है तो मन्त्री और अध्यक्ष उस पर मित्रतापूर्ण ढंग से साथ बैठ कर विचार कर लेते हैं और आम तौर पर, उसे वहीं हल कर डालते हैं। अन्त में, मन्त्री महोदय मसौदे को अपनी स्वीकृति देकर या उसमें कुछ परिवर्तन करके वापस कर देते हैं। तब यह मसौदा मामले के दूसरे काग़ज़ों के साथ सम्बन्धित विभाग की देखरेख करने वाली डायरेक्टरों की समिति के पास भेज दिया जाता है। समिति उस पर विचार करती है, बहस करती है और अन्त में अपनी स्वीकृति दे देती है, अथवा कुछ परिवर्तन कर देती है। उसके बाद, डायरेक्टरों की पूरी कोर्ट की बैठक में यह सारी क्रिया दुहराई जाती है, और वहाँ से निकलने के बाद; पहली बार मसौदे को एक सरकारी दस्तावेज़ की हैसियत प्राप्त होती है, और तब वह फिर मन्त्री महोदय के पास पहुँच जाता है, जिनके दफ़्तर में फिर एक बार उपरोक्त सारी क्रियाएँ विरुद्ध दिशा में दोहराई जाती हैं।"

मि० कैम्पबैल के कथनानुसार :

"यदि हिन्दुस्तान में किसी सवाल पर विचार हो रहा हो और बीच में ऐलान हो जाय कि उसे डायरेक्टरों की कोर्ट के पास भेज दिया गया है, तो समझा जाता है कि वह सवाल अनिश्चित काल के लिये टाल दिया गया है।"

इस नौकरशाही की कुन्द और नीच मनोवृत्ति की निन्दा बर्क के सुप्रसिद्ध कथन के शब्दों में ही करनी चाहिये। बर्क ने कहा है :

"असभ्य राजनीतिज्ञों की यह जात मनुष्य जाति का सबसे गिरा हुआ अंग है। इनके हाथों में पड़ कर, सरकार ऐसा घृणित और निर्जीव व्यापार बन जाती है जैसा अन्य कोई व्यापार नहीं होता। भलमनसाहत उनकी आदत में ही शरीक नहीं, विवेक और यश के मार्ग पर चलना उनके स्वभाव के प्रतिकूल है। राज्य के हितों पर एक विशाल, उदार और दूरदर्शी दृष्टिकोण से विचार करना, उन्हें महज़ एक रूमानी बात मालूम होती है और ऐसे दृष्टिकोण के आधार-भूत सिद्धान्तों को वे विकृत मस्तिष्क की उपज मात्र समझते हैं। हिसाब के कीड़े मुनीमों के दिमाग़ में भी इनसे ज़्यादा समझदारी होती है। विदूषकों और भाँड़ों में भी महान् और उच्च तत्त्व की समझ इनसे ज़्यादा होती है। क्षुद्रता उनका उद्देश्य है और इस उद्देश्य को प्राप्त करने के उपायों को वे गम्भीरता एवं विवेक समझते हैं।"

लेडेनहाल स्ट्रीट और कैननेरो के दफ़्तरों पर हिन्दुस्तानी जनता के हर साल महज़ १,६०,००० पौण्ड खर्च होते हैं। शासक गुट हिन्दुस्तान को युद्धों में फँसाता है ताकि उसके नौजवान बेटों को नौकरियाँ मिल सकें, धनिक वर्ग हिन्दुस्तान को सबसे अधिक दान देने वालों के हाथ उठा देता है; और मातहत नौकरशाहों की एक फ़ौज हिन्दुस्तान की शासन-व्यवस्था को निर्जीव और निष्प्राण बना देती है तथा उसके अवगुणों को सदा क़ायम रखती है, क्योंकि ऐसा न करे तो उसके अपने अस्तित्त्व का क़ायम रहना असम्भव है।

सर चार्ल्स वुड के बिल से इस व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। उसने मन्त्रिमण्डल की शक्ति तो बढ़ा दी है, पर उसकी ज़िम्मेदारियाँ तनिक भी नहीं बढ़ाई हैं।

देशी रियासतें [1]

लन्दन, मंगलवार, १२ जुलाई, १८५३।

हिन्दुस्तान सम्बन्धी बिल की एक-एक धारा पास होती जा रही है। बहस में हिन्दुस्तान के तथाकथित सुधारकों की असंगतियों के उभर कर आने के अतिरिक्त और कोई विशेषता नहीं है। उदाहरण के लिये, उनमें से एक कामन्स सभा के सदस्य लार्ड जोसीलिन हैं, जिन्होंने समय-समय पर हिन्दुस्तान में किये गये अत्याचारों और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कुशासन का दुखड़ा रोना अपनी जीविका का साधन बना लिया है। आपके विचार में, इन सज्जन ने बिल में क्या संशोधन पेश किया होगा? यही कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को १० वर्षों के लिए ठेका दे दिया जाय! सौभाग्य से, उनके अतिरिक्त इस संशोधन का समर्थक और कोई नहीं था। एक और पेशेवर "सुधारक" हैं जोसेफ़ ह्यूम महाशय, इन्होंने पार्लामेण्ट के अन्दर अपने लम्बे जीवन में विरोध करने को मन्त्रिमण्डल का समर्थन करने का एक ढंग बना डाला है। इन महाशय ने प्रस्ताव रखा कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों की संख्या २४ से घटा कर १८ न की जाय। अभी तक यदि कोई समझदारी का संशोधन पास हुआ है तो वह मिस्टर ब्राइट का संशोधन है, जिसके जरिये सरकार द्वारा नामजद किये गये डायरेक्टरों को मालिकों की कोर्ट द्वारा लगाई गई एक निश्चित संख्या में कम्पनी के हिस्से खरीदने की शर्त से बरी कर दिया गया है। 'ईस्ट इण्डिया रिफौर्म एसोसियेशन' (ईस्ट इण्डिया सुधार समिति—अनु०) द्वारा प्रकाशित पुस्तिकाओं

---

१. न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून, १५ जुलाई, १८५३।

को पढ़ जाइये, आपको कुछ ऐसा ही लगेगा जैसे नेपोलियन बोनापार्ट के खिलाफ़ राजवंश के समर्थकों, ओर्लियंस के ड्यूक के हिमायतियों, नीले और लाल प्रजातन्त्रवादियों, और यहाँ तक कि निराश बोनापार्टवादियों, ने मिल कर कोई पंचमेल अभियोग-पत्र तैयार किया है और आप उसको सुन रहे हैं। अभी तक उन्हें केवल इसी बात का श्रेय है कि आम तौर पर उन्होंने हिन्दुस्तान के मामलों की ओर जनता का ध्यान खींचा; और 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा; भानमती ने कुनबा जोड़ा' वाली मसल पर चलते हुए, वे जिस ढंग से आजकल सरकार का विरोध करते हैं उसमें वे इसके आगे नहीं जा सकते। उदाहरण के लिये, वे हिन्दुस्तान में अंग्रेज सामन्तों की हरकतों की तो निन्दा करते हैं, पर हिन्दुस्तानी सामन्तों को, देशी राजाओं और नवाबों को मिटाने का वे विरोध करते हैं।

जब ब्रिटिश आक्रमणकारियों ने एक बार हिन्दुस्तान में अपने पैर जमा लिये और उसे अपने क़ब्ज़े में रखने का फ़ैसला कर लिया, तो फिर उनके सामने इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं रह गया कि देशी राजे-महाराजों की ताक़त को छल से या बल से नष्ट कर दें। देशी राजाओं के विषय में उनकी वैसी ही स्थिति थी जैसी प्राचीन रोमनों की अपने सहायकों के विषय में थी, और अंग्रेज़ों ने रोमनों की ही नीति को अपनाया। एक अंग्रेज लेखक के शब्दों में : "यह नीति अपने सहायकों को मोटा करने की नीति थी, उसी तरह जैसे हम बैलों को मोटा करते हैं और मोटे हो जाने पर उन्हें खा जाते हैं।" प्राचीन रोमनों की तरह, पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी देशी राजे-महाराजों को अपना मित्र बनाती थी, फिर बड़े आधुनिक ढंग से उन्हें फाँसी पर चढ़ा देती थी। कम्पनी के साथ देशी राजे-नवाब जो समझौते कर लेते थे और उनके द्वारा जो जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर ले लेते थे, उन्हें पूरा करने के लिए उन्हें बड़े ऊँचे सूद पर अंग्रेजों से बड़ी-बड़ी रकमें उधार लेनी पड़ती थीं। और, जब क़र्ज़ बहुत बढ़ जाता था तो महाजन यकायक बड़ा कठोर बन जाता था, "सख्ती से पेश आना" शुरू कर देता था, और तब देशी राजाओं-नवाबों को या तो क़र्ज़ की रकम के बदले में

अपना राज्य कम्पनी को सौंप देना पड़ता था, या लड़ाई छेड़नी पड़ती थी। उनके सामने दो ही रास्ते रह जाते थे—या तो अपना राज्य छीनने वालों के आश्रित बन कर रहें, या ग़द्दार क़रार दिये जाकर, गद्दी से उतार दिये जायें। इस समय, हिन्दुस्तान की देशी रियासतें ६,६६,६६१ वर्ग मील के इलाक़े में फैली हुई हैं और उनकी आबादी ५,२६,४१,२६३ है। परन्तु, अब उनकी हैसियत अंग्रेज-सरकार के सहायकों या मित्रों की नहीं बल्कि केवल आश्रितों की हो गई है, जिन्हें तरह-तरह की शर्तों के अन्दर और पराधीनता के विभिन्न रूपों को स्वीकार करके रहना पड़ता है। इन विभिन्न रूपों में, एक समान बात यह है कि सभी देशी रियासतों ने आत्म-रक्षा करने, दूसरे राज्यों से राजनीतिक सम्बन्ध रखने और अपने आपसी झगड़ों को बिना गवर्नर-जनरल के हस्तक्षेप के स्वयं सुलझाने के अपने अधिकारों को तिलांजलि दे दी है।

सभी रियासतों को खिराज देना पड़ता है, या तो नक़दी के रूप में, या हथियारबन्द फ़ौज के एक दस्ते के रूप में, जिसके अफ़सर अंग्रेज होते हैं। आजकल, इन रियासतों को अन्तिम रूप से खतम कर देने, या ब्रिटिश इलाक़े में मिला लेने के सवाल पर, बड़ी तेज़ बहस चल रही है। एक तरफ़ सुधारक लोग हैं, जो कहते हैं ऐसा करना घोर अपराध होगा। दूसरी तरफ़ व्यापारी वर्ग है, जो कहता है कि इसकी क्योंकि आवश्यकता है, इसलिये ऐसा करना क्षम्य है।

मेरी राय में, यह सवाल ही ग़लत तरीक़े से उठाया गया है। जहाँ तक देशी राज्यों का सम्बन्ध है, वे वास्तव में उसी रोज से खतम हो गये थे जिस रोज उन्होंने कम्पनी की आधीनता या संरक्षण में रहना स्वीकार किया था। अगर आप किसी देश की आमदनी दो सरकारों के बीच बाँट दें तो निश्चय ही आप किसी एक के साधनों को चौपट कर देंगे और दोनों के शासन-प्रबन्ध को बिगाड़ देंगे। वर्तमान व्यवस्था में, देशी रियासतों की कमर दोहरे बोझ के नीचे टूटी जा रही है। एक तो उन पर देशी शासन-प्रबन्ध चलाने का बोझ है, दूसरे, उन्हें कम्पनी को खिराज देना पड़ता है और उसके

लिये फ़ौजी दस्ते हथियारों से लैस हर वक्त तैयार रखने पड़ते हैं। जिन परिस्थितियों के भीतर उन्हें दिखावटी आजादी क़ायम रखने की इजाज़त मिली है, वे ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनमें रहते हुए इन रियासतों में कोई सुधार होना असम्भव और उनका लगातार पतन होते जाना अवश्यम्भावी है। दूसरों की दया पर जीने वाले सभी जीवों का जैसा हाल होता है, वैसा ही इन रियासतों का भी है। उनके जीवन का नियम ही यह है कि वे कभी पुष्ट और सशक्त नहीं बन सकतीं। इसलिये सवाल असल में, देशी राज्यों या रियासतों को क़ायम रखने का नहीं, बल्कि देशी राजाओं और उनके दरबारों को क़ायम रखने का है। अब सचमुच क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि वे ही लोग, जो "इंग्लैण्ड के बादशाह और सामन्त वर्ग के बर्बर ऐश्वर्य" की निन्दा करते हैं, हिन्दुस्तानी नवाबों, राजाओं और जागीरदारों के पतन पर आँसू बहा रहे हैं, जबकि इन राजाओं में से अधिकतर ऐसे हैं जिनके पास किसी प्राचीन वंश की प्रतिष्ठा तक नहीं है और जिन्हें आम तौर पर अभी थोड़े दिन हुए अंग्रेज़ों ने ही छल से किसी दूसरे की गद्दी पर बैठाया था। सारी दुनिया में इतनी हास्यास्पद, बेहूदा और निकम्मी तानाशाहियाँ और कहीं नहीं हैं जैसी हिन्दुस्तान के ये रजवाड़े और नवाबियाँ हैं, जिन्हें लगता है कि अलिफ़ लैला के पृष्ठों से निकाल कर वहाँ बैठा दिया गया है। वेलिंग्टन के ड्यूक, सर जे० मैल्कौल्म, सर हेनरी रसेल, लार्ड एलेन बरो, जनरल ब्रिग्स और दूसरे अधिकारी वर्तमान व्यवस्था को ज्यों का त्यों बनाये रखने के पक्ष में हैं। पर आखिर क्यों? यह इसलिये कि अंग्रेज़ों की देशी फ़ौज को अपने यूरोपियन मालिकों के खिलाफ़ उठ खड़े होने से रोकने के लिये उन्हें आपस की छोटी-मोटी लड़ाइयों में फँसाये रखना जरूरी है। इसलिये कि स्वतन्त्र राज्यों को बनाये रखने से समय-समय पर अंग्रेज़ फ़ौजों को कुछ काम मिल जाता है। इसलिये कि देशी राजा और नवाब अंग्रेज़ तानाशाही के सबसे अधिक आज्ञाकारी दासों का काम करते हैं और उन साहसी सैनिक वीरों को नहीं बढ़ने देते जो हिन्दुस्तान में सदा जन्म लेते रहे हैं और लेते रहेंगे। इसलिये कि स्वतन्त्र राज्यों में हिन्दुस्तान के

सभी असन्तुष्ट और साहसी लोगों को शरण मिल जाती है। इन सब तर्कों का मूल तत्त्व यह है कि देशी राजे-महाराजे इस घृणित अंग्रेजी शासन के मज़बूत स्तम्भ हैं और हिन्दुस्तान की उन्नति के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट हैं। पर इन तर्कों को छोड़ कर, थोड़ा सर टॉमस मुनरो और लार्ड एलफ़िंस्टन के तर्कों पर विचार किया जाय, जो और कुछ नहीं तो प्रतिभाशाली व्यक्ति तो हैं ही और हिन्दुस्तानियों से सच्ची हमदर्दी भी रखते हैं। इनका विचार है कि देशी अभिजात वर्ग के सिवा समाज के और किसी वर्ग में शक्ति और ओज नहीं होता, इसलिये इस अभिजात वर्ग के विनाश से पूरी क़ौम ऊपर उठने के बजाय और पतन के गड्ढे में गिर जायेगी। उनकी राय उस वक्त तक सही हो सकती है जबतक देशी लोगों को प्रत्यक्ष अंग्रेजी शासन के नीचे सभी ऊँचे सरकारी और फ़ौजी पदों से अलग रखने की नीति चलती रहती है। किसी देश में यदि लोग अपनी मेहनत से ऊपर नहीं उठ पाते तो कम से कम कुछ जन्म से ऊँचे लोग तो होने ही चाहिये, जो पराजित जाति का कुछ न कुछ आत्माभिमान क़ायम रखें। पर, ब्रिटिश इलाक़ों में अभी तक हिन्दुस्तानियों को ऊँचे पदों से अलग रखा जाता है तो इन तथाकथित स्वतन्त्र इलाक़ों में देशी राजाओं को क़ायम रख कर ही। और देशी फ़ौज को सन्तुष्ट रखने के लिये, जिस पर हिन्दुस्तान में अंग्रेजी शासन की ताक़त का पूरा दारोमदार है, यह आवश्यक था कि या तो देशी रियासतें क़ायम रखी जातीं, या ऊँचे पदों को हिन्दुस्तानियों के लिये खोल दिया जाता। मेरे विचार में, कैम्पबैल का यह मत बिलकुल सही है कि हिन्दुस्तानी अभिजात वर्ग के लोगों में ऊँचे पदों के लिए सबसे कम योग्यता है, और शासन-व्यवस्था की नये अफ़सरों की आवश्यकता को पूरा करने के लिये एक नया वर्ग तैयार करना होगा, "कि नीचे के वर्गों में हमें जो बुद्धि की तीव्रता और सीखने की क्षमता दिखाई देती है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि यह काम जैसा हिन्दुस्तान में किया जा सकता है, वैसा और किसी देश में नहीं।"

देशी राजा स्वयं बड़ी तेज़ी से मिटते जा रहे हैं, क्योंकि उनके वंशों का

अन्त होता जाता है। परन्तु, इस सदी के शुरू से ब्रिटिश सरकार की यह नीति रही है कि वह या तो गोद लेकर वारिस बनाने की उनको इजाज़त दे देती है, या उनकी खाली जगह पर खुद अपनी किसी कठपुतली को बैठा देती है। महान् गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौज़ी ने सबसे पहले इस नीति का विरोध किया। परिस्थिति यही है कि यदि घटनाओं के प्राकृतिक क्रम को जबर्दस्ती न रोका जाय तो देशी राजाओं को हटाने के लिये न युद्धों की आवश्यकता होगी, न खर्च की।

जहाँ तक *पेंशनयाफ़्ता राजाओं* का सवाल है, ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान की आमदनी में से २४, ६८, ६६६ पौण्ड उन पर खर्च करती है। केवल चावल खाकर ज़िन्दा रहने वाली और जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं से भी वंचित रह जाने वाली एक क़ौम के लिये यह एक असहनीय भार है। इन राजाओं से अगर कोई काम लिया जा सकता है तो बस यही कि बादशाहत के हद दर्जे के पतन और उसके एक मज़ाक बन कर रह जाने के रूप में उनकी नुमायश की जाय। उदाहरण के लिये, तैमूर के वंशज मुग़ल बादशाह को ही लीजिये। उसे १, २०,००० पौण्ड की सालाना पेंशन मिलती है। उसका हुक्म उसके महल की दीवारों के बाहर नहीं चलता। महल के अन्दर शाही खान्दान के लोग खरगोशों की तरह बेशुमार बच्चे पैदा करते रहते हैं। यहाँ तक कि दिल्ली की पुलिस भी अंग्रेज अफ़सरों के हाथ में है और बादशाह उनके बारे में चूँ तक नहीं कर सकता। जरा कल्पना कीजिये, एक नाटा, दुबला-पतला, सूखा, पीला पड़ा हुआ बुड्ढा हिन्दुस्तानी नर्तकियों जैसी सुनहरी ज़रीदार, नाटकीय पोशाक पहने तख्त पर बैठा हुआ है। कुछ मुख्य अवसरों पर यह कठपुतला नकली ठाठ-बाट करके बाहर निकलता है, ताकि भक्त-गण देख कर आनन्दित हों। दरबार लगता है तो भेंट के लिये आने वालों को फ़ीस में अशर्फ़ियाँ नज़र करनी पड़ती हैं; बदले में वह उन्हें पगड़ी, हीरे आदि देता है। पर नज़दीक से देखने पर, लोगों को पता चलता है कि शाही हीरे, असल में, मामूली काँच के टुकड़ों जैसे हैं जिन्हें भद्दे ढंग से रंग कर

हीरों जैसा बनाया गया है और जिन्हें इतनी बुरी तरह जोड़ा गया है कि वे हाथ में लेते ही बिखर जाते हैं।

हमें मानना पड़ेगा कि अंग्रेज महाजन, जिनके साथ अब अंग्रेज सामन्त भी जुड़ गये हैं, बादशाहों को नीचे गिराने की कला खूब जानते हैं। स्वदेश में उन्होंने बादशाह के अधिकारों का विधानवाद के द्वारा अन्त कर दिया है; और विदेश में उन्होंने राजाओं, नवाबों और शाहों के हाथों में रंगमहलों के भीतर दरबार करने के सिवा और कोई अधिकार नहीं छोड़ा है। और तब हमारे ये उग्रवादी आते हैं, जो इस दृश्य को देख कर एकदम आग-बबूला हो उठते हैं।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के भावी परिणाम[1]

लन्दन, शुक्रवार, २२ जुलाई, १८५३ ।

इस पत्र में मैं हिन्दुस्तान सम्बन्धी अपनी टिप्पणियों को समाप्त करना चाहता हूँ ।

यह कैसे सम्भव हुआ कि हिन्दुस्तान पर अंग्रेज़ों का आधिपत्य क़ायम हो गया ? मुग़ल बादशाहों[2] की सर्वोच्च शक्ति को मुग़ल सूबेदारों ने तोड़ा । सूबेदारों की ताक़त को मराठों[3] ने नष्ट किया । मराठों की शक्ति को अफ़ग़ानों[4] ने खतम किया, और जब सब एक-दूसरे से लड़ने में लगे थे, तब अंग्रेज़ आया और सबको कुचलकर खुद बादशाह बन गया । हिन्दुस्तान एक ऐसा देश था जिसमें सिर्फ़ मुसलमान और हिन्दू ही नहीं लड़ते थे, बल्कि जिसमें एक क़बीला दूसरे क़बीले से और एक जात दूसरी जात से लड़ती थी । उसका समाज ऐसा था जिसका ढाँचा समाज के सभी सदस्यों के एक-दूसरे से विरोध और वैधानिक अलगाव से उत्पन्न एक

१. **न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून,** ८ अगस्त, १८५३ ।

२. हिन्दुस्तान के मुग़ल बादशाह जो तुर्क बाबर के ख़ानदान के थे, और जिन्होंने १५२६ से १८५७ तक हिन्दुस्तान पर शासन किया था ।

३. यहाँ १८ वीं सदी के भारत के मराठा राज्यों के संघ की ओर संकेत है, अंग्रेजों ने कई घनघोर लड़ाइयों के बाद १८१७ में मराठा राज्यों पर अधिकार कर लिया और उनकी शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया ।

४. मराठों पर पहली बड़ी चोट १७६१ में अफ़ग़ान विजेता अहमदशाह अब्दाली ने की थी ।

तरह के संतुलन पर आधारित था। ऐसा देश और उसका ऐसा समाज! दूसरों द्वारा जीता जाना क्या इसके भाग्य में ही नहीं लिखा था? और, यदि हमें हिन्दुस्तान के पिछले इतिहास का ज़रा सा भी ज्ञान न हो, तो भी हम इस भयंकर और निर्विवाद सत्य से मुँह नहीं मोड़ सकेंगे कि आज भी हिन्दुस्तान को हिन्दुस्तानी पैसे से चलने वाली एक हिन्दुस्तानी फ़ौज अंग्रेज़ों का गुलाम बनाये है! अतः यह हिन्दुस्तान के भाग्य में लिखा हुआ था कि वह दूसरों के द्वारा जीता जाय। और, उसका पिछला सारा इतिहास यदि कुछ भी है तो वह एक के बाद दूसरे विभिन्न लोगों के द्वारा बार-बार जीते जाने का इतिहास है। हिन्दुस्तानी समाज का कोई इतिहास नहीं है; कम से कम ज्ञात इतिहास तो बिलकुल ही नहीं है। जिसे हम उसका इतिहास कहते हैं, वह वास्तव में उन आक्रमणकारियों और विजेताओं का इतिहास है जिन्होंने एक के बाद एक आकर इस समाज के निष्क्रिय आधार पर, जो न उनका विरोध करता था, न कभी बदलता था, बड़े-बड़े साम्राज्य क़ायम किये। इसलिये, सवाल यह नहीं है कि अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान को जीतने का अधिकार था या नहीं, बल्कि सवाल यह है कि क्या हम यह ज़्यादा पसन्द करते कि अंग्रेज़ों के बजाय तुर्क, या ईरानी, या रूसी हिन्दुस्तान को फ़तेह करते।

इंग्लैण्ड को हिन्दुस्तान में दो महान् कार्य करने हैं—एक ध्वंसात्मक काम, दूसरा पुनर्रचनात्मक। उसे पुराने एशियाई समाज[1] को नष्ट करना है और एशिया में पश्चिमी समाज के लिये भौतिक आधार तैयार करना है।

अरब, तुर्क, तातार, मुग़ल, जिन्होंने एक के बाद एक हिन्दुस्तान पर

१. पुराना एशियाई समाज सामन्तवाद का एक पूर्वी रूप था, जिसकी विशेषतायें ये थीं: ज़मीन पर राज्य का आधिपत्य, राज्य के ही हाथों में सार्वजनिक निर्माण-कार्यों का ख़ास तौर से सिंचाई-व्यवस्था का केन्द्रीयकरण; ग्रामीण बस्तियों के ढांचे में उद्योग और खेतीबारी की एकता। दूसरे स्थलों पर मार्क्स और एँगेल्स ने "एशियाई समाज" की जगह "एशियाई तानाशाही" शब्दों का प्रयोग किया है।

चढ़ाई की, खुद बहुत जल्द हिन्दुस्तानी बन गये। इतिहास के एक शाश्वत नियम के अनुसार, बर्बर विजेताओं को उनकी प्रजा की ऊँची सभ्यता ने जीत लिया। अंग्रेज पहले विजेता थे जिनकी सभ्यता हिन्दुस्तानियों से ऊँची थी और इसलिये जिन तक हिन्दुस्तानी सभ्यता की पहुँच न थी। अंग्रेजों ने देशी बस्तियों को उजाड़ कर, देशी उद्योग-धन्धों का नाश करके और देशी समाज के प्रत्येक महान् और गौरवपूर्ण तत्त्व को धूल में मिला कर हिन्दुस्तानी सभ्यता को नष्ट कर दिया। हिन्दुस्तान में उनके शासन के इतिहास में ध्वंस और विनाश के सिवा शायद ही कुछ और मिले; ध्वंस के खंडहरों के बीच पुनर्निर्माण के कार्य का लगभग कोई चिह्न नहीं दिखाई देता, फिर भी यह काम शुरू हो चुका है।

पुनर्निर्माण की पहली शर्त यह थी कि हिन्दुस्तान में राजनीतिक एकता स्थापित हो और वह मुग़ल बादशाहों के शासन में स्थापित एकता से कहीं अधिक मजबूत और व्यापक हो। अंग्रेजी तलवार द्वारा स्थापित, इस एकता को अब बिजली का तार और मजबूत बनायेगा और स्थायित्व प्रदान करेगा। हिन्दुस्तानियों के स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये जरूरी था कि उनकी अपनी एक सेना हो और हिन्दुस्तान हर आने वाले विदेशी हमलावर का शिकार बनना बन्द करे; अंग्रेज ड्रिल-सार्जेण्ट ने एक देशी हिन्दुस्तानी सेना संगठित और शिक्षित करके तैयार कर दी है। एशियाई समाज में पहली बार स्वतन्त्र अखबार और छापेखाने क़ायम हो गये हैं, जिन्हें प्रायः हिन्दुस्तानियों और यूरोपियनों की मिली-जुली सन्तानें निकालती हैं। ये अखबार पुनर्निर्माण के एक नये और शक्तिशाली साधन के रूप में काम कर रहे हैं। जमींदारी[1] और रैयतवारी[2] प्रथाओं की शक्ल में—यद्यपि

१. जमींदार—पहले के लगान वसूलने वाले, जिन्हें अंग्रेजों ने जमीन का मालिक बना दिया था और जो बाद में व्यापारी और सूदखोर बन बैठे। इस तरह, भारतीय किसान की गर्दन पुराने अधिकार विहीन सामन्ती भू-स्वामियों के जुये में फँसने के बजाय, नये जमींदार सूदखोरों के जुयें में फँस गई।

२. रैयतवार—रैयत या जमीन को जोतने वाले, रैयतवारी व्यवस्था के अन्तर्गत जमीन जोतने वाला किसान भूमि-कर सीधे राज्य को देता है।

ये बहुत बुरी प्रथाएँ हैं,—एशियाई समाज में जिस चीज़ की सबसे अधिक कमी थी, वह भूमि पर निजी स्वामित्व हो गया है और उसके दो अलग-अलग रूप तैयार हो गये हैं। यद्यपि अंग्रेज़ बड़ी अनिच्छा के साथ और कम से कम संख्या में हिन्दुस्तानियों को अपनी देखरेख में कलकत्ते में शिक्षा दे रहे हैं, तो भी उससे हिन्दुस्तानियों के बीच में से एक नया वर्ग पैदा हो रहा है जिसे सरकार चलाने के लिये आवश्यक यूरोपीय विज्ञान की जानकारी और ज्ञान प्राप्त हो गया है। भाप ने हिन्दुस्तान का यूरोप से शीघ्र और नियमित सम्पर्क स्थापित कर दिया है। उसने हिन्दुस्तान के मुख्य बन्दरगाहों को पूरे दक्षिण-पूर्वी महासागर के सभी बन्दरगाहों से जोड़ दिया है। बाक़ी दुनिया से हिन्दुस्तान के उस अलगाव को खतम कर दिया है, जो हिन्दुस्तानी समाज के कभी प्रगति न करने का मुख्य कारण था। वह दिन बहुत दूर नहीं जब रेल गाड़ियाँ और भाप से चलने वाले समुद्री जहाज मिल कर इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान के बीच के फ़ासले को, जहाँ तक समय का सम्बन्ध है, केवल आठ दिनों का कर देंगे और जब एक ज़माने का यह प्रसिद्ध और धनी देश सचमुच पश्चिमी संसार का भाग बन जायगा।

ब्रिटेन के शासक वर्गों ने अभी तक हिन्दुस्तान की तरक़्क़ी में केवल अपवाद रूप में और वह भी क्षणिक तथा आकस्मिक दिलचस्पी ली है। यहाँ का अभिजात वर्ग हिन्दुस्तान को जीतना चाहता था, धनिक वर्ग उसे लूटना चाहता था और कारखानेदार अपने सस्ते माल के ज़रिये उसके बाज़ारों पर क़ब्ज़ा करना और उसके उद्योगों को ठप कर देना चाहते थे। परन्तु, अब स्थिति एकदम उलट गई है। कारखानेदारों को पता लग गया है कि हिन्दुस्तान को एक उत्पादन करने वाले देश में बदलना उनके अपने हित के लिये अत्यन्त आवश्यक है और इसके लिये सबसे पहले वहाँ सिंचाई तथा आने-जाने के साधन तैयार करना जरूरी है। अब वे हिन्दुस्तान में रेलों का जाल बिछा देना चाहते हैं, और वे बिछा भी देंगे। उसके परिणाम कितने गम्भीर होंगे, इसका आज अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता।

सभी जानते हैं कि उपज को लाने-लेजाने और उसकी अदला-बदली करने के साधनों के अभाव ने हिन्दुस्तान की उत्पादक शक्तियों को पंगु बना रखा है। विनिमय के साधनों की कमी के कारण, प्राकृतिक बहुलता और समृद्धि के बीच ऐसा घोर सामाजिक दारिद्र्य हिन्दुस्तान के अलावा और कहीं न मिलेगा। ब्रिटिश कामन्स सभा की एक समिति के सामने, जो १८४८ में नियुक्त की गई थी, यह साबित किया गया था कि "जब खानदेश में अनाज ६ शिलिंग से लेकर ८ शिलिंग तक फ़ी क्वार्टर के भाव से बिक रहा था, उसी वक्त पूना में उसका भाव ६४ शिलिंग से लेकर ७० शिलिंग तक का था और लोग अकाल के मारे सड़कों पर दम तोड़ रहे थे, पर खानदेश से अनाज ले आना असम्भव था क्योंकि कच्ची सड़कें एकदम बेकार हो गई थीं।"

रेलों के बनने से खेती में भी मदद मिलेगी, क्योंकि जहाँ कहीं बांध आदि बनाने की आवश्यकता होगी वहाँ मिट्टी खोद-खोद कर तालाब भी बनाये जा सकेंगे और रेलवे लाइनों के सहारे पानी ले जाया जा सकेगा। इस प्रकार, सिंचाई का, जो पूरब में खेती की पहली शर्त है, बड़ा विस्तार होगा और पानी की कमी से बार-बार पड़ने वाले स्थानीय अकालों की गुंजाइश खतम हो जायेगी। इस दृष्टि से, रेलों का महत्त्व उस समय और भी स्पष्ट हो जाता है जब हम याद करते हैं कि घाट के नज़दीकवाले जिलों में भी, सिंचाई वाली ज़मीन से बिना पानी वाली ज़मीन की तुलना में तिगुने कर वसूले जाते हैं और दस-बारह गुना मुनाफ़ा होता है।

रेलों के बनने से फ़ौजी छावनियों की संख्या और उनके खर्च में कमी भी सम्भव हो जायेगी। फ़ोर्ट विलियम के टाउन-मेजर, कर्नल वारेन ने कामन्स सभा की उपसमिति के सामने कहा था :

> "यह सम्भावना कि आजकल जितने दिनों में और यहाँ तक कि हफ़्तों में देश के विभिन्न भागों से सूचनाएँ आ पाती हैं, भविष्य में उतने ही घण्टों में सूचनाएँ आ सकेंगी और फ़ौजों तथा सामान के साथ हिदायतें भी बहुत जल्द भेजी जा सकेंगी—यह ऐसी सम्भावना

है जिसका महत्त्व बढ़ा कर नहीं आँका जा सकता। तब हम फ़ौजों को आज की तुलना में और दूर-दूर तथा स्वास्थ्यप्रद स्थानों में रख सकेंगे और इस तरह बहुत सी जानों को बीमारी का शिकार होने से बचा सकेंगे। तब अलग-अलग गोदामों में इतना अधिक सामान इकट्ठा न करना पड़ेगा और सड़ने-गलने तथा जलवायु के कारण नष्ट हो जाने से होने वाला नुक़सान बन्द हो जायगा। फ़ौजों से अधिक काम लिया जा सकेगा और इसलिये, उसी अनुपात में उनकी संख्या को भी कम किया जा सकेगा।"

हमें मालूम है कि हिन्दुस्तान के नगरों के स्थानिक संगठन टूट गये हैं और ग्रामीण बस्तियों का आर्थिक आधार नष्ट हो गया है। परन्तु इसके बाद भी, शहरों और गाँवों की समाज-व्यवस्थाओं का सबसे बुरा गुण—समाज का एक सी अनेक, असम्बद्ध इकाइयों में बिखरे रहना—अब भी क़ायम है।

गांवों के इस अलगाव से ही यह स्थिति पैदा हुई कि हिन्दुस्तान में सड़कों का अभाव है। और, सड़कों के अभाव ने गाँवों के अलगाव को अमर बना दिया है। इस आधार पर प्रत्येक गाँव में एक ऐसी बस्ती रहती थी जिसे जीवन की बहुत कम सुविधाएँ प्राप्त होती थीं, जिसका दूसरे गाँवों से सम्पर्क नहीं के बराबर होता था और जिसमें उन इच्छाओं-आकांक्षाओं तथा प्रयत्नों का भी कोई चिह्न नहीं दिखाई देता था जो समाज के विकास के लिये नितान्त आवश्यक हैं। पर, अब अंग्रेजों ने गाँवों की आत्म-संतोषी निश्चलता को भंग कर दिया है और रेलें आने-जाने तथा सूचना लाने-लेजाने के साधनों की नई आवश्यकताओं को पूरा कर देंगी। इसके अतिरिक्त,

"रेल-व्यवस्था का एक परिणाम यह भी होगा कि जिस गाँव के पास से रेल गुज़रेगी उसमें दूसरे देशों के औज़ारों और मशीनों की भी कुछ जानकारी पहुँच जायगी और इन औज़ारों को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसका भी कुछ ज्ञान हो जायगा और

यह जानकारी तथा ज्ञान पहले हिन्दुस्तान के पुश्तैनी ग्रामीण दस्तकारों को उनकी कमियों का परिचय करायेंगे, और फिर उन कमियों को दूर करने का रास्ता भी बता देंगे।" (चैपमैन: *हिन्दुस्तान की कपास और उसका व्यापार*)।

मैं जानता हूँ कि अंग्रेज कारखानेदार केवल इसी उद्देश्य को सामने रख कर हिन्दुस्तान में रेलें बनवा रहे हैं कि उनके द्वारा कम खर्च में अधिक कपास और दूसरा कच्चा माल अपने उद्योग-धन्धों के लिये निकाल सकें। परन्तु, यदि एक बार किसी देश के आवा-जाही के साधनों में मशीनों का इस्तेमाल होने लगता है, और यदि उस देश में कोयला और लोहा भी मिलते हैं तो फिर उस मुल्क को मशीनें बनाने से नहीं रोका जा सकता। यह नहीं हो सकता कि आप एक विशाल देश में रेलों का जाल बिछाये रहें और उन औद्योगिक प्रक्रियाओं को वहाँ आरम्भ न होने दें जो रेल-यातायात की तात्कालिक और रोजमर्रा की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जरूरी हैं। और, इन औद्योगिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप यह भी अवश्यम्भावी है कि उद्योग की जिन शाखाओं का रेलों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, उनमें भी मशीनों का उपयोग होने लगे। इस प्रकार, रेल-व्यवस्था से हिन्दुस्तान में आधुनिक उद्योग की नींव पड़ गई है। यह इसलिये और भी निश्चित है कि स्वयं ब्रिटिश अधिकारियों की राय में हिन्दुस्तानियों में काम के नये ढंग सीखने और मशीनों का आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होती है। इस बात की सचाई का सबूत चाहिये तो कलकत्ते के सिक्के बनाने के सरकारी कारखाने के हिन्दुस्तानी इंजीनियरों की योग्यता और कौशल को देखिये, जो बरसों से भाप से चलने वाली मशीनों पर काम कर रहे हैं; हरद्वार के कोयले वाले ज़िले में भाप से चलने वाले इंजिनों पर काम करने वाले हिन्दुस्तानियों की दक्षता को देखिये। और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। मिस्टर कैम्पबैल पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अंध-विश्वासों का बड़ा प्रभाव है। पर, उनकी भी यही राय है कि "आम हिन्दुस्तानी लोगों के बहुसंख्यक समुदाय में भारी औद्योगिक

क्षमता मौजूद है। वे बहुत जल्द पूँजी जमा कर सकते हैं। हिसाब-किताब तथा गणित में उनका मस्तिष्क विलक्षण रीति से काम करता है और अन्य विज्ञानों में भी वे बहुत सुगमता से दक्षता प्राप्त कर लेते हैं।" उनका कथन है कि "हिन्दुस्तानियों की बुद्धि बहुत तीव्र होती है।" रेल-व्यवस्था से उत्पन्न होने वाले, आधुनिक उद्योग-धन्धे उस पुश्तैनी श्रम-विभाजन को भंग कर देंगे, जिस पर हिन्दुस्तान की तरक्क़ी और उसकी ताक़त के बढ़ने के रास्ते की सबसे बड़ी रुकावट, हिन्दुस्तान की वर्ण-व्यवस्था टिकी हुई है। अंग्रेज पूँजीपति वर्ग मजबूर होकर चाहे जो कुछ करे, उससे हिन्दुस्तान की आम जनता को न तो आज़ादी मिलेगी, न उसकी सामाजिक हालत में कोई ख़ास सुधार होगा; क्योंकि यह तो तभी हो सकता है जब न केवल उत्पादक शक्ति का विकास हो, बल्कि उस पर जनता का स्वामित्व भी क़ायम हो जाय। लेकिन, एक काम है जिसको पूरा किये बिना अंग्रेज़ पूँजीपति नहीं रह सकते। वह यह कि वे इन दोनों के लिये भौतिक आधार तैयार कर जायें। और, पूँजीपति वर्ग ने क्या कभी इससे अधिक कुछ किया है? कभी भी क्या उसने व्यक्तियों और जनता को रक्त और कीचड़, दुःख और पतन के गर्त में धकेले बिना कोई प्रगति की है?

अंग्रेज पूँजीपति वर्ग ने हिन्दुस्तानियों के बीच नये समाज के जो बीज बिखेरे हैं, उनके फल हिन्दुस्तानी तब तक नहीं चख सकेंगे जब तक या तो स्वयं ब्रिटेन में वर्तमान शासक वर्गों का स्थान औद्योगिक मज़दूर वर्ग न ले लेगा, या हिन्दुस्तानी खुद इतने शक्तिशाली न हो जायेंगे कि अंग्रेज़ों की गुलामी के जुएँ को एकदम उतार फेंकें। हर हालत में, यह आशा तो हम विश्वास के साथ कर ही सकते हैं कि थोड़ा-बहुत ज़माना बीत जाने के बाद उस महान् और मनोरंजक देश का पुनरुत्थान होगा जिसके निम्न से निम्न स्तर के सीधे-सादे नागरिक भी, राजकुमार सोल्तीकौव के शब्दों में "इटली के निवासियों से भी अधिक कुशल और कुशाग्र" होते हैं, जिनकी परवशता में भी एक शान्त चित्त महानता दिखाई देती है, जिन्होंने अपनी स्वाभाविक सुस्ती के बावजूद अपनी बहादुरी से अंग्रेज अफ़सरों को चकित

कर दिया है, जिनके देश से हमें हमारी भाषा और हमारा धर्म प्राप्त हुए हैं और जिनके बीच प्राचीन जर्मनों के प्रतिनिधि के रूप में जाट, और प्राचीन यूनानियों के प्रतिनिधि के रूप में ब्राह्मण आज भी मौजूद हैं।

इस विषय को समाप्त करने से पहले, मैं अन्तिम टिप्पणियों के रूप में ज़रूर कुछ कहना चाहूँगा।

अपने देश में शिष्ट और सभ्य रूप में प्रकट होने वाली पूँजीवादी सभ्यता जब उपनिवेशों में जाती है तो उसकी भयंकर धूर्तता और स्वभावगत वर्बरता हमारी आँखों के सामने बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि वहाँ वह अपने नग्न रूप में प्रकट होती है। अंग्रेज पूँजीपति निजी सम्पत्ति के रक्षक हैं, परन्तु क्या किसी क्रान्तिकारी पार्टी ने कभी भी ऐसी किसान-क्रान्तियों को जन्म दिया है जैसी क्रान्तियों को अंग्रेजों ने बंगाल, मद्रास और बम्बई में उभाड़ दिया था? क्या यह सच नहीं है कि हिन्दुस्तान में जब साधारण भ्रष्टाचार से उनकी स्वार्थलिप्सा शान्त नहीं हुई, तो उस खूँखार लुटेरे, क्लाइव के ही शब्दों में, उन्होंने बेहूदा लूट-खसोट शुरू कर दी थी? जब यूरोप में ये लोग राष्ट्रीय क़र्ज़ की पवित्रता की दुहाई दे रहे थे और कह रहे थे कि उसे छूना भी घोर पाप है, तभी क्या हिन्दुस्तान में उन्होंने राजाओं की वे रक़में ज़ब्त नहीं कर ली थीं जो स्वयं कम्पनी के कोष में जमा उनकी पूँजी पर मुनाफ़े के रूप में उन्हें मिलनी चाहिये थीं? जब वे फ्रांसीसी क्रान्ति का विरोध "हमारे पवित्र धर्म" की रक्षा के नाम पर कर रहे थे, उसी वक़्त क्या उन्होंने हिन्दुस्तान में ईसाई धर्म के प्रचार पर रोक नहीं लगा दी थी? उड़ीसा और बंगाल के मन्दिर में दर्शनार्थ आने वाले यात्रियों से रुपया कमाने के वास्ते क्या उन्होंने जगन्नाथ के मन्दिर में चलने वाली वेश्या-वृत्ति और नर-हत्या के व्यापार में सहयोग नहीं दिया था?[१] ये ही हैं वे लोग

---

१. **जगन्नाथ :** पुरी (उड़ीसा) में हिन्दुओं के देवता जगन्नाथ का मन्दिर, जिसे भक्त लोग तीर्थ स्थान मानते आये हैं। विशेष पर्वों पर जगन्नाथ की मूर्ति को एक सुसज्जित रथ पर जलूस के साथ निकाला जाता था। कितने ही भक्त रथ के सामने लेट जाते और अपने प्राण दे देते थे। मन्दिर के पुजारी धार्मिक अनु-

जो "सम्पत्ति, व्यवस्था, परिवार, और धर्म" की दुहाई देते नहीं थकते।

हिन्दुस्तान जैसे देश पर, जो यूरोप के समान विशाल है और जिसमें १५ करोड़ एकड़ ज़मीन है, अंग्रेजी उद्योगों का विनाशकारी प्रभाव स्पष्ट और ताज्जुब में डाल देने वाला है। परन्तु, हमें यह न भूलना चाहिये कि यह प्रभाव वर्तमान समय में प्रचलित उत्पादन-व्यवस्था का स्वाभाविक और लाजिमी परिणाम है। यह उत्पादन-व्यवस्था पूँजी की सर्वोच्च सत्ता पर आधारित है। पूँजी के एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में रहने के लिये आवश्यक है कि पूँजी का केन्द्रीयकरण हो। दुनिया के बाजारों पर इस केन्द्रीयकरण का जो विनाशकारी प्रभाव पड़ता है, वह वास्तव में उन आर्थिक नियमों को बड़े भीमाकार रूप में प्रकट करता है, जो आजकल प्रत्येक सभ्य शहर में काम कर रहे हैं और जो वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में निहित हैं। इतिहास के पूँजीवादी युग को नये संसार का भौतिक आधार तैयार करना है। और इसके लिये उसे एक ओर, मानव जाति की पारस्परिक निर्भरता तथा पारस्परिक सम्पर्क के साधनों के विकास के आधार पर संसार-व्यापी सम्पर्क क़ायम करना है; दूसरी ओर, उसे मनुष्य की उत्पादन करने की शक्तियों को बढ़ाना और भौतिक उत्पादन को प्राकृतिक शक्तियों पर मानव-विज्ञान के आधिपत्य में बदलना है। जिस प्रकार भूगर्भ में होने वाली प्राकृतिक क्रान्तियों ने पृथ्वी का धरातल बनाया था, उसी प्रकार, पूँजीवादी उद्योग और व्यापार नये संसार के लिये आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ तैयार कर रहे हैं। दुनिया का बाजार और उत्पादन की आधुनिक शक्तियाँ— पूँजीवादी युग के इन बड़े परिणामों पर जब एक महान् सामाजिक क्रान्ति अधिकार कर लेगी और उन्हें सर्वाधिक प्रगतिशील जनता की संयुक्त सम्पत्ति बना डालेगी, तभी मानव प्रगति प्राचीन मूर्ति-पूजकों के उस भयंकर देवता का रूप त्यागेगी जो बलि दिये गये इन्सानों की खोपड़ियों में भर-भर कर अमृत पीता था।

स्थानों की आड़ में वेश्याओं का धन्धा करते थे। यह उनके लिये अच्छी-खासी आमदनी का जरिया था। इस आमदनी का एक हिस्सा नज़राने के तौर पर अंग्रेजों के पास पहुँचा दिया जाता था।

हिन्दुस्तान की पंचायती अर्थ-व्यवस्था का आधार, विकास और पतन

हिन्दुस्तान में सामूहिक खेती वाले गृहस्थ समाज का जिक्र सिकन्दर महान् के समकालीन नियार्कस ने किया था, और देश के उसी भाग में, पंजाब और पूरे उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में, आज भी वैसा समाज पाया जाता है। कोहकाफ़ के क्षेत्र में वैसे समाज का पता स्वयं कोवालेव्स्की[1] ने लगाया था।

अल्जीरिया में इस प्रकार का समाज अब भी क़बाइलों में पाया जाता है। कहते हैं इस तरह का समाज अमरीका तक में था। प्राचीन मैक्सिको के जिस 'कलपुल्लिस' का जुरिता ने वर्णन किया है, वह भी यही समझा जाता है। परन्तु, पीरू के बारे में तो कुनो ने यह और भी स्पष्टता से सिद्ध कर दिया है (औसलैण्ड, १८६०, अंक ४२-४४) कि उस देश पर विदेशियों का अधिकार होने के पहले वहाँ एक ऐसी व्यवस्था थी जिसमें खेती के योग्य जमीन को समय-समय पर निवासियों के बीच बाँट दिया जाता था और इसलिए, खेती व्यक्तिगत ढंग से होती थी। (एँगेल्स, *परिवार की उत्पत्ति*, पृष्ठ ७३)।

हिन्दुस्तान की ये छोटी-छोटी और अत्यन्त प्राचीन बस्तियाँ, जिनमें से कुछ आज तक चली आती हैं, ज़मीन पर सामूहिक अधिकार, खेती और दस्तकारी की मिलावट और एक ऐसे श्रम-विभाजन पर आधारित हैं, जो

१. मैक्सिम मैक्सिमोविच कोवालेव्स्की (१८५१-१९१६)।

कभी नहीं बदलता और जो नई बस्ती शुरू करने के समय पहले से बनी-बनाई तैयार योजना के रूप में काम में आता है। इन बस्तियों के पास सौ से लगाकर कई हजार एकड़ तक ज़मीन रहती है, और हर बस्ती अपने में पूर्ण होती है तथा अपनी जरूरत की सभी चीजें अपने-आप पैदा कर लेती है। पैदावार का अधिकतर भाग सीधे बस्ती के ही काम में आता है और वह बाज़ार का माल नहीं बनता। इसलिये, माल को बेचने और खरीदने से समाज में जो श्रम-विभाजन हो जाता है, जो दरअसल सारे हिन्दुस्तानी समाज में हो भी चुका है, उसका असर यहाँ के उत्पादन पर नहीं पड़ता। खाने-खरचने से बची अतिरिक्त पैदावार ही बिकाऊ माल बनती है और, असल में तो, उसका भी एक हिस्सा उस वक्त तक बेचने के काम में नहीं आता जब तक कि वह राज्य के हाथों में नहीं पहुँच जाता। बाबा आदम के ज़माने से यह रीति चली आ रही है कि पैदावार का एक हिस्सा, बतौर लगान के, राज्य को दे दिया जाता है। हिन्दुस्तान के अलग-अलग हिस्सों में इन प्राचीन बस्तियों की रचना अलग-अलग ढंग की है। सबसे सरल रूप यह है कि सब लोग मिल कर खेती करते हैं और आपस में पैदावार बाँट लेते हैं। इसके साथ-साथ कातने और बुनने का काम हर कुनबे में सहायक धन्धे के रूप में होता है। इस प्रकार, एक ओर गाँव के आम लोग होते हैं जो एक ही प्रकार के काम में जुटे हुए होते हैं। दूसरी ओर, 'मुखिया' होता है जो जज, पुलिस और तहसीलदार का काम एक-साथ करता है। पटवारी खेती-बाड़ी का हिसाब रखता है और उसके बारे में हर बात अपने काग़जों में दर्ज करता है। एक दूसरे कर्मचारी का काम होता है कि वह अपराधियों पर मुक़दमा चलाये, अजनबी मुसाफ़िरों की हिफ़ाज़त करे और उन्हें अगले गाँव तक सकुशल पहुँचा आये। डंडैत पड़ौस की बस्तियों से गाँव की सरहद की रक्षा करता है। आबपाशी का हाकिम सिंचाई वाले तालाबों से पानी बाँटता है। ब्राह्मण धार्मिक अनुष्ठान कराता है। पाठशाला का पण्डित बच्चों को बालू में लिखना-पढ़ना सिखाता है। ज्योतिषी जोतने-बोने, फ़सल काटने और खेती के दूसरे कामों के लिये महूरत विचारता है। लोहार

और बढ़ई खेती के औजार बनाते हैं और उनकी मरम्मत करते हैं। कुम्हार सारे गाँव के लिये बर्तन-भाँड़े तैयार करता है। इनके साथ नाई, धोबी, सुनार और कहीं-कहीं कवि भी होता है, जो कुछ बस्तियों में सुनार का और कुछ में पाठशाला के पण्डित का भी काम करता है। इन दस-बारह आदमियों की जीविका पूरी बस्ती के सहारे चलती है। अगर आबादी बढ़ी तो खाली ज़मीन पर, उसी पुराने ढाँचे के मुताबिक, एक नई बस्ती खड़ी हो जाती है। पूरा ढाँचा ऐसा है जिससे एक नियमित श्रम-विभाजन प्रकट होता है; परन्तु ऐसा श्रम-विभाजन बाज़ार के लिये पैदा करने वाले उद्योगों में असम्भव होता है, क्योंकि यहाँ तो लोहार और बढ़ई आदि के लिये जो बाज़ार है वह कभी नहीं घटता-बढ़ता। अधिक से अधिक यह होता है कि गाँव बहुत बड़ा हुआ तो एक तरह के एक कारीगर की जगह दो-दो या तीन-तीन कारीगर हो जाते हैं। इस प्रकार, जहाँ प्रत्येक कारीगर—लोहार, बढ़ई, या कोई और—पुराने, परम्परा से चले आये ढंग से, परन्तु पूर्ण स्वतंत्रता के साथ, अपने स्थान पर अपना धन्धा चलाता है और किसी और की अपने ऊपर सत्ता नहीं मानता। वहाँ समाज में जिस नियम के अनुसार श्रम का विभाजन होता है, वह नियम प्रकृति के क़ानून की भाँति अबाध गति से काम करता है और कोई उसकी सत्ता का उल्लंघन नहीं कर सकता। अपने में पूर्ण, इन बस्तियों में उत्पादन का संगठन बहुत ही सरल ढंग से किया जाता है। ये बस्तियाँ लगातार एक ही ढंग की नई-नई बस्तियों को जन्म देती रहती हैं। अकस्मात् अगर कोई बस्ती बरबाद हो जाती है तो उसी जगह पर और उसी नाम से, वैसी ही दूसरी बस्ती उठ खड़ी होती है। एशिया के समाजों में जो कभी कोई परिवर्तन नहीं होता दिखाई देता, उसका कारण यही है। एशिया के राज्य लगातार बिगड़ते और बनते, तथा हुकूमत करने वाले राजवंश लगातार बदलते रहते हैं। लेकिन उसके विपरीत, ये ग्रामीण-समाज ज्यों के त्यों बने रहते हैं। राजनीति के आकाश में जो तूफ़ानी बादल उठते हैं, उनका कोई

भी असर समाज के आर्थिक तत्वों के ढाँचे पर नहीं पड़ता। (मार्क्स, *पूँजी : अर्थशास्त्र की एक समीक्षा*, खण्ड १, पृष्ठ ३६१)।

बहुत से उद्योगों में उत्पादन-क्रिया की कुछ ऐसी नाज़ुक अवस्थाएँ होती हैं, जिनमें कुछ निश्चित परिणामों को प्राप्त कर लेना आवश्यक होता है। ये अवस्थाएँ क्रिया के स्वरूप द्वारा निश्चित होती हैं। उदाहरण के लिये, यदि भेड़ों के एक रेवड़ का ऊन उतारना है, या गेहूँ के एक खेत को काटना और फ़सल को बटोरना है, तो तैयार ऊन अथवा गेहूँ की अच्छाई-बुराई और परिमाण इस बात पर निर्भर हैं कि एक निश्चित समय पर काम आरम्भ हुआ था या नहीं और वह एक नियत समय के भीतर समाप्त हो गया था या नहीं। ऐसे कामों में एक क्रिया में कितना समय लगना चाहिये, यह पहले से निश्चित होता है, जैसे हेरिंग मछली पकड़ने के बारे में। अकेला एक आदमी, साधारण रूप से एक दिन में से काम के लिये १२ घण्टों से अधिक नहीं निकाल सकता। लेकिन, यदि १०० आदमी मिल कर काम करते हों तो वे काम के दिन को १,२०० घण्टों का बना सकते हैं। काम के लिये दिये गये समय की कमी को, निर्णयकारी क्षण आने पर, बहुत से काम करने वालों को उत्पादन के मोर्चे पर लगा कर पूरा कर दिया जाता है। उचित समय के भीतर काम का पूरा होना, इस बात पर निर्भर रहता है कि बहुत से काम के दिनों का एक साथ उपयोग होता है। काम कितना अच्छा होगा, यह काम करने वालों की संख्या पर निर्भर करता है। परन्तु, यदि मजदूरों को अलग-अलग काम पर लगाया जाय तो इतने ही समय के भीतर इतना ही काम करने के लिये हमेशा इससे ज़्यादा मजदूरों की आवश्यकता होगी। इस प्रकार के सहयोग के न होने के कारण ही अमरीका के पश्चिमी भाग में बहुत सा मक्का और हिन्दुस्तान में, जहाँ अंग्रेजी शासन ने पुराने समाज को नष्ट कर दिया है, बहुत सी रुई हर साल जाया हो जाती है। (कार्लमार्क्स, *पूँजी: अर्थशास्त्र की एक समीक्षा*, खण्ड १, पृ० ३५६)।

कुछ दिनों से लोगों में यह बेसिर-पैर की धारणा फैल गई है कि आदिम

रूप में सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होना स्लाव जातियों की या केवल रूसियों की ही विशेषता है। हम सिद्ध कर सकते हैं कि अपने आदिम रूप में इस तरह का सामूहिक अधिकार रोमन, जर्मन और कैल्ट लोगों में भी था; और इसके अनेक उदाहरण, बहुत कुछ तबाही की हालत में, हिन्दुस्तान में आज भी मिल सकते हैं। अगर हम सामूहिक सम्पत्ति के एशियाई, और विशेषकर, हिन्दुस्तानी रूपों का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि आदिम साम्यवाद के विभिन्न रूपों से किस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार की ऐसी धाराएँ फूट निकली थीं, जिन्होंने उस समाज को नष्ट कर दिया। उदाहरण के लिये, रोमन और जर्मन व्यक्तिगत सम्पत्ति के जो विभिन्न मूल रूप थे, उनका सम्बन्ध हम हिन्दुस्तानी साम्यवाद के विभिन्न रूपों से पायेंगे। (मार्क्स, *पूँजी : अर्थशास्त्र की समीक्षा*, खण्ड १, पृ० २६)।

मानव-विकास के अरुणोदय काल में, शिकार से जीविका प्राप्त करने वाली क़ौमों में, या भारतीय ग्राम-बस्तियों की खेती में, जो सहयोग पाया जाता है, वह दो बातों पर आधारित है। एक बात यह कि उत्पादन के साधनों पर सब का सामूहिक अधिकार होता है। दूसरी बात यह कि इन समाजों के अलग-अलग व्यक्ति अभी तक अपने-आपको क़बीले या समाज की नाभि-नाल से उसी तरह अलग नहीं कर पाये हैं जैसे मधुमक्खियाँ अपने छत्ते से अपने को अलग नहीं कर पातीं। पूँजीवादी सहयोग से इस सहयोग में इन्हीं दो बातों को लेकर अन्तर है। प्राचीन काल में, मध्य युग में और आधुनिक उपनिवेशों में, पाया जाने वाला बड़े पैमाने का सहयोग प्रभुता और दासता, और ख़ास तौर पर गुलामी के सम्बन्धों पर क़ायम रहा है। (मार्क्स, *पूँजी : अर्थशास्त्र की एक समीक्षा*, खण्ड १, पृ० ३६६)।

जब मनुष्य ने पशु-अवस्था को छोड़ कर इतिहास के युग में प्रवेश किया तो वह खुद भी आधा जंगली जानवर था। उस मानव-विकास की यह प्राथमिक अवस्था थी और मनुष्य का प्रकृति की शक्तियों पर कुछ भी अधिकार न था; वह स्वयं अपनी शक्ति को नहीं पहचानता था; पशुओं के समान ही, वह साधनविहीन था और उत्पादन भी उनसे कुछ विशेष

अधिक नहीं कर पाता था। जीवन की परिस्थितियों में एक समानता सी थी और जहाँ तक कुटुम्बों के प्रधानों का सम्बन्ध है, सामाजिक हालत में बराबरी थी। कम से कम वे वर्ग-भेद नहीं थे जो बाद में खेतिहर बस्तियों में पैदा हो गये। ऐसी सामाजिक अवस्था में, कुछ समान हित ऐसे थे जो कुछ मामलों में व्यक्तियों के हितों से बड़े समझे जाते थे, जैसे झगड़ों को सुलझाना, अपने अधिकारों का अतिक्रमण करने वाले व्यक्तियों को दबाना, पानी की व्यवस्था को, विशेषकर गरम देशों में, देखभाल करना और आदिम जंगलों वाले जीवन की परिस्थितियों में धार्मिक अनुष्टान करना। इस प्रकार के सामूहिक कामों को करने वाले समाज के कर्मचारी हमें जर्मनों की माक नामक बस्तियों में और आजकल के हिन्दुस्तान में भी मिलते हैं। जब-जब ऐसे कर्मचारी सामने आये हैं, तब-तब राज्य-सत्ता की भी प्रारम्भिक रूप में शुरूआत होने लगी है।" (एंगेल्स, *वैज्ञानिक समाजवाद की मंज़िलें (ड्यूरिंग मत-खंडन)*, पृ० २०६)।

मध्य युग में खेती का हिसाब-किताब सिर्फ़ मठों या विहारों में ही रखा जाता था। परन्तु, हम इस पुस्तक (*पूँजी-अनु०*) के पहले खण्ड में देख चुके हैं कि आदिम भारतीय ग्राम-बस्तियों के प्राचीन काल में भी खेती का हिसाब-किताब एक विशेष कर्मचारी रखने लगा था। ऐसी हालत में हिसाब-किताब रखना पंचायती कर्मचारी का एक स्वतन्त्र काम बना दिया जाता है। श्रम के इस विभाजन से समय की बचत होती है, मेहनत कम पड़ती है और खर्च कम होता है; परन्तु उत्पादन एक चीज़ है और उत्पादन का हिसाब रखना बिलकुल दूसरी चीज़ है, और दोनों में उतना ही अन्तर है जितना जहाज़ पर लदे सामान में और उसकी रवानगी के परचे में होता है। हिसाब रखने वाले के रूप में समाज की श्रम-शक्ति का एक भाग उत्पादन से हटा लिया जाता है। उसका खर्च उसकी अपनी मेहनत से नहीं निकलता, बल्कि सामाजिक पैदावार में से काट लिया जाता है। और, जो बात एक भारतीय ग्राम-समाज के हिसाब रखने वाले पटवारी के बारे में सही है वह, बदली हुई परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए, पूँजीपतियों के

हिसाब रखने वाले क्लर्कों के बारे में भी सही है। (मार्क्स, *पूँजी: अर्थशास्त्र की एक समीक्षा*, खण्ड २, पृ० १५२)।

पूरब के नगर कैसे बने, इस विषय पर वृद्ध फ्रेंक्वा बेर्नोए (जो नौ वर्षों तक औरंगज़ेब का वैद्य रहा था और जिसने "यात्राएँ जिनमें महान् मुग़ल सम्राट के राज्यों का एक वर्णन आदि सम्मिलित है" लिखी थी) की रचना से अधिक स्पष्ट, चमत्कारपूर्ण और आकर्षक वर्णन और कहीं नहीं मिल सकता। उसने सैनिक व्यवस्था का भी बहुत अच्छा वर्णन किया है और बताया है कि उन बड़ी-बड़ी सेनाओं के भोजन की व्यवस्था किस प्रकार की जाती थी, इत्यादि। इन दो बातों के बारे में, उसने लिखा है:

> "सेना का मुख्य भाग घुड़सवार होते हैं। पैदल सेना इतनी बड़ी नहीं होती जितनी कि आम तौर पर अफ़वाह सुनी जाती है। हाँ, सेना के पीछे-पीछे चलने वाले नौकर-चाकरों और बाज़ार के लोगों को भी यदि उसमें जोड़ लिया जाय तो दूसरी बात है। तब ज़रूर, मैं इस बात का विश्वास कर लूँगा कि जो लोग अकेले बादशाह के साथ चलने वाले सैनिकों की संख्या दो-तीन लाख, या कभी-कभी तो उससे भी अधिक बताते हैं, वे सही कहते होंगे। मिसाल के लिये, जब बादशाह काफ़ी लम्बे समय के लिये राजधानी के बाहर जाता है तब इस तरह की सेना उसके साथ होती है। और यदि कोई आदमी जानता है कि कितने डेरे, बावर्चीख़ाने, कपड़े, फ़र्नीचर और यहाँ तक कि औरतें तक इन सेनाओं के साथ-साथ चलती हैं और इसलिये उन्हें कितने हाथियों, ऊँटों, बैलों, घोड़ों, कुलियों, सईसों, मोदियों, तरह-तरह के व्यापारियों और नौकरों को इन सेनाओं को अपने साथ रखना पड़ता है, तो उसे इस बात में ज़रा भी आश्चर्य नहीं होगा कि सेना के साथ चलने वाले लोगों की संख्या इतनी बड़ी क्यों हो जाती है। इसमें उन लोगों को भी आश्चर्य नहीं होगा जो इस देश की शासन-व्यवस्था और राज्य-संचालन के विशेष ढंग से परिचित हैं और जानते हैं कि राज्य के भीतर देश की सारी भूमि का एकमात्र स्वामी बादशाह

होता है। इसका मतलब यह होता है कि दिल्ली या आगरा जैसे नगरों की, जो देश की राजधानी हैं, पूरी की पूरी आबादी सेना के सहारे जीती है, और इसलिये, जब कभी बादशाह लम्बे समय के लिये सेना सहित बाहर जाता है, तो राजधानी की आबादी को मजबूर होकर उसके पीछे-पीछे जाना पड़ता है। कारण कि ये शहर पेरिस जैसी राजधानियों से न तो ज़रा भी मिलते हैं, न मिल सकते हैं; क्योंकि ये शहर सच पूछा जाय तो फ़ौजी छावनियों के सिवा और कुछ नहीं हैं, अन्तर केवल इतना है कि खुले मैदान में लगी छावनियों से ये शहरों की छावनियाँ ज़रा बेहतर और ज़्यादा अच्छी जगहों पर होती हैं।

४ लाख की फ़ौज आदि को लेकर मुग़ल बादशाह ने काश्मीर पर जो चढ़ाई की थी, उसके बारे में बेर्नियर ने लिखा है :

"यह सचमुच समझ में नहीं आता कि इतनी बड़ी फ़ौज के लिये, सिपाहियों और जानवरों की इतनी बड़ी संख्या के लिये, छावनी के बाहर मैदान में भोजन-पानी का प्रबन्ध कैसे किया जाता था। एक बात तो यह समझ में आती है, जो सच भी है, कि हिन्दुस्तानी लोग खाने-पीने के मामले में बहुत संजीदगी और सादगी से काम लेते हैं, और घुड़सवारों की विशाल संख्या का दसवाँ या बीसवाँ भाग भी ऐसे लोगों का नहीं होता जो कूच के समय गोश्त खाते हों। उन्हें तो थोड़ी खिचड़ी या दाल अथवा भाजी के साथ चावल मिल जायँ और ऊपर से थोड़ा मक्खन पिघला कर डाल दिया जाय, तो बस वे सन्तुष्ट हो जाते हैं। दूसरी बात, जो हमें जाननी चाहिये, यह है कि ऊँटों में बड़ी सख्त मेहनत करने और लम्बे समय तक भूख और प्यास सहने की शक्ति होती है। बहुत कम भोजन से उनका काम चल जाता है और जो मिल जाता है, उसी से वे अपना पेट भर लेते हैं। इसके अलावा, दिल्ली के बाज़ारों में जिन सौदागरों की दूकानें होती हैं, उन्हें फ़ौज के साथ-साथ अपनी दूकानों को लेकर चलना पड़ता है। यही स्थिति छोटे

दूकानदारों की भी होती है···। और अन्त में, घास के बारे में और बता दिया जाय कि इस देश के ग़रीब लोग जीविका की तलाश में गाँव-गाँव मारे-मारे फिरते हैं और अन्त में, उन सबको यही काम मिलता है कि एक छोटी सी खुरपी लेकर घास के मैदान के मैदान साफ़ कर डालें, या काटी हुई दूब या अन्य घास साफ़ करके लायें और फ़ौज के हाथ बेच दें···।" (मार्क्स, एंगेल्स के नाम पत्र, लन्दन, २ जून, १८५३)।

भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार का न होना, वस्तुतः सारे पूरब को समझने की कुंजी है। इसी में पूरब का राजनीतिक और धार्मिक इतिहास निहित है। परन्तु, यह हुआ कैसे कि पूरब के लोग भू-सम्पत्ति तक पहुँचे हो नहीं, यहाँ तक कि सामन्ती ढंग की भू-सम्पत्ति का भी उनके यहाँ विकास नहीं हुआ। मैं समझता हूँ कि इसका मुख्य कारण वहाँ का जलवायु है और उसके साथ-साथ वहाँ की खास तरह की धरती भी एक कारण है। विशेष रूप से, उन बड़े रेगिस्तानी इलाक़ों का इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्व है जो सहारा से लेकर अरब, ईरान, हिन्दुस्तान और तातारों के प्रदेश से होते हुए एशिया के सबसे ऊँचे पठारों तक फैले हुए हैं। वहाँ खेती की पहली शर्त यह है कि मनुष्य प्रकृति पर भरोसा न करके सिंचाई का प्रबन्ध खुद करे; और यह काम या तो गाँव की पंचायत के जिम्मे होता है, या सूबा अथवा केन्द्रीय सरकार के। और, पूरब की किसी भी सरकार के कभी तीन से अधिक विभाग नहीं रहे: अर्थ-विभाग (देश की जनता को लूटने के लिये), युद्ध-विभाग (देश और विदेश दोनों की जनता को लूटने के लिये) और सार्वजनिक निर्माण-विभाग (पुनरुत्पादन की व्यवस्था के लिये)। पहले और दूसरे विभाग को ब्रिटिश सरकार ने भारत में कुछ खानापूरी करने के ढंग पर चलाया है; पर तीसरे विभाग को उसने बिलकुल छोड़ रखा है और भारत की खेती चौपट होती जा रही है। स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त ने यहाँ अपना दिवालियापन एकदम सिद्ध कर दिया है। अतः जैसे-जैसे सिंचाई की व्यवस्था सरकार की लापरवाही के कारण खराब होती गई, वैसे-वैसे

जमीन को पानी देने का प्रबन्ध बन्द होता गया। इसी से आज हमें यह विचित्र बात दिखाई देती है कि ऐसे कितने ही बड़े-बड़े इलाक़े जिनमें कभी हरे-भरे खेत लहलहाया करते थे, आज बंजर और छूँछ पड़े हुए हैं (पाल्मीरा, पेत्रा, यमन के खण्डहर और मिस्र, ईरान, तथा हिन्दुस्तान के कई इलाक़े इसके उदाहरण हैं)। इसी से, यह बात भी समझ में आ जाती है कि पूरब में एक ही विनाशकारी युद्ध क्यों सदियों के लिये पूरे देश को वीरान कर देता है और उसकी सारी सभ्यता को तहस-नहस कर डालता है। मुहम्मद साहब के आने के पहले, दक्षिणी अरब के व्यापार के चौपट हो जाने का भी यही कारण था, और तुम्हारी यह राय बिलकुल सही है कि मुस्लिम क्रान्ति में इस व्यापार के विनाश का बहुत बड़ा हाथ था...।

वृद्ध बेर्नियें की रचनाएँ सचमुच बड़ी सुन्दर हैं। उस गम्भीर और समझदार फ्रांसीसी बूढ़े की लिखी हुई किसी चीज को एक बार फिर पढ़ कर मन प्रफुल्लित हो उठता है। वह अनजाने ढंग से ही जो बात कहता है, सवा लाख की कहता है...............। (एंगेल्स, *मार्क्स के नाम पत्र*, मैनचेस्टर, ६ जून, १८५३)।

हिन्दुस्तान पर अपने पहले लेख में, मैंने एक छिपा हुआ युद्ध जारी रखा है। इस लेख में, इंग्लैण्ड द्वारा हिन्दुस्तान के देशी उद्योग-धन्धों के विनाश को एक क्रान्तिकारी काम कहा गया है। इससे इन महाशयों को बड़ा धक्का लगेगा। बाक़ी तो भारत में अंग्रेजों का पूरा शासन सुअरपन से भरा-पूरा था, और आज भी है।

एशिया के इस भाग के राजनीतिक धरातल पर कितनी ही उद्देश्य हीन हलचलें क्यों न होती हों, अन्दर से वह एकदम निश्चल रहता है। इसके दो कारण हैं, और ये दोनों कारण एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। एक कारण तो यह है कि सार्वजनिक निर्माण की जिम्मेदारी केन्द्रीय सरकार पर होती है; दूसरा यह कि चन्द बड़े शहरों को छोड़ कर पूरा साम्राज्य गाँवों में बँटा हुआ है और हर गाँव का एकदम अलग संगठन होता है और हरेक की अपनी अलग दुनिया होती है......।

इस प्रकार के सुन्दर ग्रामीण प्रजातन्त्र, जो केवल पड़ौस के गाँवों से अपने गाँव की सीमाओं की बड़ी तत्परता से रक्षा किया करते थे, हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिमी भागों में, जो अभी हाल में अंग्रेज़ों के हाथ में आये हैं, आज भी पाये जाते हैं और उनके रूप में भी कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। मैं यह समझता हूँ कि एशियाई तानाशाही की निश्चलता के लिये इससे मजबूत और किसी आधार की कल्पना नहीं की जा सकती थी। इंग्लैण्ड भले ही हिन्दुस्तान को दूसरा आयरलैण्ड बनाना चाहे, परन्तु उसे यूरोप के रंग में रंगने के लिये सबसे पहले यह जरूरी था कि समाज-संगठन के इन एक से आदिम रूपों को तोड़ा जाय। कर उगाहने वाला कर्मचारी अकेला इस काम को पूरा नहीं कर सकता था। इसे पूरा करने के लिये, आवश्यक था कि बाबा आदम के जमाने के उद्योग-धन्धे खत्म हों ताकि गाँवों का स्वावलम्बी रूप नष्ट हो जाय।

जावा के पूर्वी किनारे पर बाली नाम का एक द्वीप है। वहाँ हिन्दुओं का यह सामाजिक संगठन, हिन्दू धर्म के साथ-साथ, आज भी पूर्ण रूप में पाया जाता है। और हिन्दू प्रभाव की भाँति, उसके भी चिह्न सारे जावा में मिलते हैं। जहाँ तक सम्पत्ति का प्रश्न है, हिन्दुस्तान के बारे में लिखने वाले अंग्रेज़ लेखकों के लिये यह एक बड़ा विवादग्रस्त प्रश्न बन गया है। कृष्णा नदी के दक्षिण के पठारों के प्रदेश में, मालूम होता है कि भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार पहले से था। दूसरी ओर, जावा के बारे में, वहाँ के भूतपूर्व अंग्रेज गवर्नर सर स्टैनफ़ोर्ड रैफ़ल्स ने अपनी पुस्तक *जावा का इतिहास* में बताया है कि वहाँ उस सारी जमीन का, जिससे थोड़ा भी लगान मिल सकता था, एकछत्र स्वामी राजा होता था। हर हालत में, मालूम होता है, सबसे पहले और मुख्यतः मुसलमानों ने ही सारे एशिया में इस सिद्धान्त की स्थापना की थी कि "भूमि पर किसी का अधिकार नहीं होना चाहिये।"

उपर्युक्त गाँवों के बारे में, मैंने यह देखा है कि उनका जिक्र *मनुस्मृति* में भी आता है, और उनका पूरा संगठन उसी पर आधारित है। वह

यों कि दस गाँवों पर राज-कर वसूलने वाला एक अधिकारी होता है, फिर सौ के ऊपर एक अधिकारी होता है, और फिर हज़ार के ऊपर एक। (मार्क्स, एंगेल्स के *नाम* पत्र, लन्दन, १४ जून, १८५३)।

खेती के छिन्न-भिन्न होने के बारे में लिखी हुई एक रूसी पुस्तक के मुख्य अंशों का अनुवाद बोरखीम मेरे लिये कर रहे हैं और उन्होंने मुझे इस विषय पर शेदो-फ़ेरोती नामक एक रूसी लेखक की एक फ्रांसीसी भाषा की किताब भी दी है। शेदो-फ़ेरोती ने यह लिख कर बहुत बड़ी ग़लती की है कि रूस की पंचायती व्यवस्था शुरू में उस क़ानून से उत्पन्न हुई थी जिसके द्वारा किसानों को अपनी जमीनें छोड़ कर जाने से रोक दिया गया था। वास्तव में, यह कुछ बहुत छिछले ढंग का आदमी मालूम होता है। रूस की पंचायती व्यवस्था, पूरी की पूरी और अपनी छोटी से छोटी बात में भी जर्मनों की आदिम पंचायती व्यवस्था से बिलकुल मिलती है। रूसियों ने उसमें जो नई बातें जोड़ दी हैं (और जो हिन्दुस्तान की पंचायती व्यवस्था में भी पाई जाती हैं—पंजाब में नहीं, दक्षिण में), वे ये हैं: (१) पंचायत के नेतृत्व का रूप ग़ैर जनवादी और पितृ सत्तात्मक है और (२) राज्य को कर आदि देने की जिम्मेदारी पूरे गाँव पर सामूहिक रूप से होती है। दूसरी बात का मतलब यह है कि कोई रूसी किसान जितना ही मेहनती होता है, राज्य के हित के लिये उसका उतना ही अधिक शोषण किया जाता है। उसे कर भी अधिक देने पड़ते हैं और आये दिन गाँव से होकर गुज़रने वाली सरकारी फ़ौजों तथा सरकारी हरकारों के लिये सामान, घोड़े आदि भी अधिक देने पड़ते हैं। यह सड़ी हुई व्यवस्था पूरी की पूरी अब भरभरा कर गिरना ही चाहती है। (मार्क्स, एंगेल्स के *नाम* पत्र, लन्दन, ७ नवम्बर, १८६८)।

आदिम अर्थ-व्यवस्था पर सोने का और सूद-ख़ोरी का प्रभाव; भारतीय किसानों को लूटने के तरीक़े; पूँजीवाद के बल-पूर्वक उभरने के कारण आदिम अर्थ-व्यवस्था का ध्वंस

जब बिकाऊ माल तैयार करने वाले किसी समाज में मालों के निहित मूल्य का रूप बढ़ कर सोने के रूप की अवस्था तक पहुंच जाता है, तब मूल्य के ऐसे बहुत से तत्त्व फूटने लगते हैं जो अभी तक छिपे हुए थे। अगला बड़ा क़दम मालों के रूपों का साधारणीकरण होता है। सोना इस्तेमाल के लिये तैयार की गई वस्तुओं को विनिमय में धकेल कर बिकाऊ माल बना देता है। उसके बाद, बिकाऊ माल और सोना सामाजिक उत्पादन में लगे हुए समाज पर प्रहार करते हैं, एक के बाद, दूसरे सामाजिक बंधन को तोड़ते हैं, और अन्त में समाज को छिन्न-भिन्न करके उसे व्यक्तिगत रूप से पैदावार करने वाले बहुत से उत्पादकों में बदल देते हैं। सोना, जैसा उसने भारत में किया, सामूहिक खेती की जगह व्यक्तिगत रूप से की जाने वाली खेती जारी करता है। फिर, वह समय-समय पर पंचायती ज़मीन को अलग-अलग व्यक्तियों में बांटने की प्रथा को खतम कर देता है और ज़मीन पर लोगों का निजी स्वामित्व स्थायी रूप से क़ायम कर देता है, और अन्त में, उसी के कारण पंचायती जंगल भी लोगों में बाँट दिये जाते हैं। औद्योगिक विकास से उत्पन्न होने वाली दूसरी अनेक बातों का भी इसमें हाथ रहता

है, परन्तु पंचायती समाज के विनाश में सोना सबसे अधिक शक्तिशाली अस्त्र का काम करता है। (एंगेल्स, *वैज्ञानिक समाजवाद की मंज़िलें (ड्यूरिंग मत-खण्डन)* पृ० २५६)।

पूँजीवाद के पहले की, उत्पादन की सभी प्रणालियों पर सूदखोरी का क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ता है। वह केवल इस तरह कि सूदखोरी से सम्पत्ति के वे रूप छिन्न-भिन्न और नष्ट हो जाते हैं, जो राजनीतिक संगठन के मजबूत आधार होते हैं और जिनका लगातार पुनरुत्पादन होते रहना राजनीतिक संगठन के स्थायी रूप से क़ायम रहने के लिये नितान्त आवश्यक है। एशियाई समाज-व्यवस्थाओं में, सूदखोरी बहुत दिनों तक जारी रह सकती है, पर आर्थिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार के फैलने के अतिरिक्त उसका कोई और परिणाम नहीं होता। जब तक पूँजी-वादी उत्पादन के लिये आवश्यक अन्य परिस्थितियाँ तैयार नहीं हो जातीं, तब तक सूदखोरी उत्पादन की नई प्रणाली को जारी करने में सहायता नहीं दे सकती। जब अन्य परिस्थितियाँ भी तैयार हो जाती हैं, तभी सूद-खोरी भी, एक ओर, सामन्ती प्रभु तथा छोटे पैमाने पर पैदावार करने वालों को तबाह करके और, दूसरी ओर, उत्पादन के साधनों का पूँजी के रूप में केन्द्रीयकरण करके पैदावार की नई प्रणाली के शुरू होने में मदद देती है। (मार्क्स, *पूँजी : अर्थशास्त्र की एक समीक्षा*, खण्ड ३, पृ० ७०१)।

हिन्दुस्तान से लेकर आयरलैण्ड तक, शुरू में जमीन पर गाँव या कबीले का सामूहिक अधिकार हुआ करता था और जमीन के टुकड़ों पर खेती करना उसी से शुरू हुआ। कभी-कभी सब साथ मिल कर सबके फ़ायदे के लिये खेती करते थे; कभी-कभी समाज की ओर से खेती की जमीन के टुकड़े अलग-अलग परिवारों के बीच बाँट दिये जाते थे और जंगल आदि सामूहिक उपयोग के लिये रख लिये जाते थे। (एंगेल्स, *वैज्ञानिक समाज-वाद की मंज़िलें (ड्यूरिंग मत-खण्डन)*, पृ० २०४)।

इसके अतिरिक्त, यह भी स्पष्ट है कि जिन व्यवस्थाओं में खुद मेहनत करने वाला उत्पादन के साधनों का और उन परिस्थितियों का भी "स्वामी"

होता है जिनके बीच वह जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक वस्तुओं को पैदा करने के लिये मेहनत करता है,—उन सभी व्यवस्थाओं में सम्पत्ति का सम्बन्ध, लाजिमी तौर पर, मालिकों और नौकरों के सम्बन्ध के रूप में भी प्रकट होता है, और इस तरह, उत्पादन करने वाला स्वतन्त्र नहीं रहता। स्वतन्त्रता का यह अभाव थोड़ा घटता-बढ़ता रहता है। अर्द्ध-दास प्रथा में पैदावार करने वाला मालिक के खेत पर मुफ़्त काम करने के लिये मजबूर होता है। बाद को, मालिक को कुछ नज़र भेंट देने से ही काम चल जाता है। हमने जिस उदाहरण को लिया है, उसमें उत्पादन करने वाले के पास उसके अपने उत्पादन के साधन हैं, और जिन वस्तुओं की मदद से वह मेहनत करता है और अपने जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक वस्तुओं को पैदा करता है, वे भी उसके अधिकार में हैं। अपनी खेती और उससे सम्बन्धित ग्रामीण घरेलू उद्योग-धंधे वह एक स्वतन्त्र उत्पादक की हैसियत से चलाता है। यह स्वतन्त्रता इस बात से नष्ट नहीं होती कि, हिन्दुस्तान की तरह, कहीं-कहीं ये छोटे-छोटे किसान मिल कर खेती करने के लिये, एक कमोवेश कुदरती ढंग की पंचायत बना लेते हैं; क्योंकि यहाँ तो सवाल सिर्फ़ उस आदमी से स्वतन्त्रता का होता है जो नाम को जमीन का मालिक होता है। ऐसी परिस्थितियों में, जमीन के मालिक के लिये यदि किसी तरह किसानों से अतिरिक्त-श्रम प्राप्त करना है तो वह किसी आर्थिक उपाय के द्वारा नहीं किया जा सकता, बल्कि उसके लिये कुछ और ही उपाय निकालने होंगे, फिर चाहे उनका रूप कैसा भी क्यों न हो।[1] (मार्क्स, *पूँजी : अर्थशास्त्र की एक समीक्षा*, खण्ड ३, पृ० ६१८-६१६)।

पूँजीवाद के पहले की, उत्पादन की राष्ट्रीय प्रणालियाँ अपनी अन्दरूनी दृढ़ता और रचना के द्वारा व्यापार के ध्वंसात्मक प्रभाव को किस प्रकार रोकती हैं, यह भारत और चीन के साथ इंग्लैण्ड के व्यापार से स्पष्ट हो जाता है। छोटे पैमाने की खेती और घरेलू उद्योग-धन्धों की एकता इन

१. किसी देश को फ़तेह करने के बाद, विजेता पहला काम यह करता है कि उस देश में रहने वाले इन्सानों पर भी क़ब्ज़ा कर लेता है। (मार्क्स)।

देशों में उत्पादन की प्रणाली का आम आधार है। इसके अलावा, भारत में जमीन पर सामूहिक अधिकार पर आधारित पंचायती संगठन भी है। शुरू में, चीन में भी जमीन पर सामूहिक अधिकार ही होता था। भारत में, अंग्रेजों ने इन छोटे-छोटे आर्थिक संगठनों को छिन्न-भिन्न करने के लिये शासकों और जमींदारों की हैसियत से अपने सीधे राजनीतिक अधिकारों का और अपनी आर्थिक शक्ति का एक साथ प्रयोग किया।[१] अंग्रेजों का व्यापार इन संगठनों पर केवल इसी हद तक क्रान्तिकारी प्रभाव डालता है और उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, जिस हद तक इंग्लैण्ड का बना हुआ सस्ता सामान, इन देशों के कातने और बुनने के उद्योगों को नष्ट कर देता है, क्योंकि ये उद्योग खेती तथा घरेलू उद्योगों की एकता के अति प्राचीन और अत्यन्त आवश्यक अंग होते हैं। और फिर भी, इन संगठनों को छिन्न-भिन्न करने का काम बहुत धीरे-धीरे चल रहा है। चीन में तो उसकी गति और भी धीमी है, क्योंकि वहाँ अंग्रेजों के पास कोई सीधी राजनीतिक ताक़त नहीं थी जिसका वे इस काम के लिये उपयोग कर सकते। खेती और उद्योग-धन्धों के सीधे सम्बन्ध के फलस्वरूप, इन देशों में खर्च की और समय की बड़ी बचत होती है। इसके विपरीत, (पश्चिम के) बड़े उद्योगों की पैदावार के दाम परिचलन के व्यर्थ के खर्च के कारण बहुत बढ़ जाते हैं। इससे, भारत और चीन जैसे देशों के घरेलू उद्योग-धन्धे बहुत जम कर पश्चिम के उद्योगों का मुक़ाबिला करते हैं। दूसरी ओर अंग्रेजों से बिलकुल उल्टे, रूसियों के व्यापार का एशियाई उत्पादन के आधार पर कोई प्रभाव

---

१. यदि किसी राष्ट्र का इतिहास असफल और बेहूदा (और, व्यवहार की दृष्टि से बहुत निन्दनीय) आर्थिक प्रयोगों से भरा हुआ है, तो वह भारत में अंग्रेजों की व्यवस्था का इतिहास है। बंगाल में उन्होंने बड़े पैमाने पर इंग्लैण्ड की जमींदारी प्रथा की भोंड़ी नकल की। दक्षिण-पूर्वी भारत में, उन्होंने छोटे पैमाने के खेत बनाने की भोंड़ी चेष्टा की। उत्तर-पश्चिम में उन्होंने जमीन पर सामूहिक अधिकार के आधार पर क़ायम स्वयं भारतीय पंचायत को एक भोंडा रूप दे देने की भरसक कोशिश की। (फ्रेडरिक एंगेल्स)।

नहीं पड़ता।[1] (मार्क्स, पूँजी : *अर्थशास्त्र की एक समीक्षा*, खण्ड ३, पृ० ३६२)।

दुनिया में हर चीज़ नष्ट हो जाती है। महासागरों को पार करने वाले भाप के जहाजों और उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका एवं भारत की रेलों के कारण बड़े विचित्र प्रकार के भूमि-खण्ड यूरोप की अनाज की मण्डियों में चलने वाली प्रतियोगिता के मैदान में उतरे। उत्तरी अमरीका के प्रायरीज़ (वृक्ष विहीन घास के मैदान), आर्जेण्टाइना के ऊँची घास के मैदान और स्टेपीज़ आदि, ऐसे भूमि-खण्ड थे जिन्हें स्वयं प्रकृति ने उपजाऊ बना रखा था और मानो हल के लिये तैयार करके रख छोड़ा था। इन ज़मीनों पर बहुत ही पिछड़े हुए ढंग के खेती के तरीक़ों से और बिना किसी प्रकार का खाद डाले भी बरसों तक बढ़िया फ़सलें होती रहीं। इनके अलावा, रूसी और भारतीय ग्राम-पंचायतों की ज़मीनें थीं। स्वेच्छाचारी राजा इन पंचायतों से बड़ी निर्ममता के साथ, और कभी-कभी तो यातनाओं का प्रयोग करके, कर वसूलते थे। इन करों को अदा करने के लिये पंचायतों को मजबूर होकर अपनी उपज का एक हिस्सा बेचना पड़ता था, और इस हिस्से का परिमाण बराबर बढ़ता जाता था। इस उपज को बेचने में इस बात का कोई ख़याल नहीं रखा जाता था कि उसके उत्पादन में कितना खर्च हुआ है, क्योंकि कर-वसूली का दिन आने पर कहीं से भी लाकर पैसा देना पड़ता था और तब दूकानदार जिस भाव पर मांगता था, किसान को उसी भाव पर अनाज बेचना पड़ता था। और, अमरीका की नई उपजाऊ भूमि तथा करों के बोझ से दबे हुए रूसी और भारतीय किसानों के मुक़ाबिले में, यूरोप के पूँजीवादी खेती करने वाले और साधारण किसान लगान की पुरानी दरों के क़ायम रहते हुए, प्रतियोगिता में नहीं टहर सकते

---

१. जबसे रूस ने स्वयं अपने पूँजीवादी उत्पादन को बढ़ाने के लिये सिर तोड़ प्रयत्न करने शुरू किये हैं, तब से यह बात भी बदलने लगी है। रूस का पूँजीवादी उत्पादन केवल अपने घरेलू बाज़ार पर और पड़ोस के एशियाई राज्यों पर निर्भर करता है। (एंगेल्स)।

थे। इसलिये, यूरोप की भूमि का एक हिस्सा तो निश्चित रूप से अनाज उगाने की प्रतियोगिता के बाहर निकल गया; और लगान हर जगह कम हो गया। गिरते हुए दाम और बाद को लगाई हुई अतिरिक्त पूँजी की कम होती हुई उत्पादन-शक्ति यूरोप के लिये आम बात हो गई। स्कॉटलैण्ड से लेकर इटली तक, और दक्षिणी फ्रांस से लेकर पूर्वी प्रशा तक, हर जगह जमींदारों पर जो मुसीबत आई, उसका यही कारण था। सौभाग्य से, घास के मैदानों वाली सारी जमीन अभी नहीं जोती गई है। अब भी बहुत सी ऐसी जमीन बाकी है जो यूरोप के छोटे-बड़े सभी जमींदारों को चौपट करने के लिये काफ़ी होगी। —फ्रेडरिक एंगेल्स (मार्क्स की पूँजी में एंगेल्स का फुटनोट, खण्ड ३, पृ० ८४२–८४३)।

उपज के रूप में लगान देने की प्रणाली एशियाई समाज के निश्चल और स्थायी रूप के लिये बड़ी उपयुक्त है। पहले तो इस प्रणाली का अनोखा रूप ही ऐसा है कि उसमें लगान एक विशेष प्रकार की उपज और एक विशेष प्रकार के उत्पादन से बंध जाता है। दूसरे, इस प्रणाली में यह भी नितान्त आवश्यक है कि खेती और घरेलू उद्योग-धन्धे एक साथ चलते हैं। तीसरे, इस प्रणाली में प्रत्येक किसान परिवार लगभग पूरी तरह स्वावलम्बी होता है और बाजार से मुक्त होता है। उत्पादन की गति का और सामाजिक क्षेत्र की घटनाओं का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। संक्षेप में, इस प्रणाली में जो प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था पाई जाती है, वह एशियाई समाज की स्थिरता और निश्चलता के सर्वथा उपयुक्त है। इसके पहले की प्रणाली में, पैदावार करने वाले को उत्पादन के मुख्य साधन—जमीन—के मालिक के लिये मुफ़्त में काम करना पड़ता था और इस प्रकार अपना अतिरिक्त-श्रम उसे दे देना पड़ता था। इस प्रणाली में, अतिरिक्त-श्रम भूमि के लगान का रूप ले लेता है। यह श्रम भी उसे विवश होकर ही करना पड़ता है, हालाँकि उसका पहले जैसा बर्बर रूप नहीं रह जाता। यदि, थोड़ा आगे की बात सोच कर, हम यह कहें कि पैदावार करने वाला जीवन-निर्वाह के लिये नितान्त आवश्यक वस्तुओं के अलावा उपज में से अपने लिये जो कुछ

बचा कर रख लेता है वह उसका मुनाफ़ा होता है, तो हमें इस बात को भी देखना पड़ेगा कि इस मुनाफ़े से यह बात निश्चित नहीं होती कि उपज का कितना भाग लगान के रूप में दिया जायगा। यह मुनाफ़ा तो मानो लगान के पीठ पीछे तैयार होता है और उसकी स्वाभाविक सीमा उपज के रूप में दिये जाने वाले लगान से निश्चित होती है। यह लगान इतना बढ़ सकता है कि श्रम के साधनों का, उत्पादन के साधनों का, उत्पादन खतरे में पड़ जाय। लगान के कारण, उत्पादन बढ़ाना नामुमकिन होता जाता है और पैदावार करने वालों का जीवन-स्तर गिरते-गिरते इतना नीचे आ जाता है कि वे किसी प्रकार अपने को ज़िन्दा रखने भर से अधिक और कुछ नहीं कर पाते। यह बात उस समय विशेष रूप से होती है जब इस प्रणाली का उपयोग कोई विजेता औद्योगिक जाति आकर करती है, जैसा कि अंग्रेज़ों ने भारत में किया। (मार्क्स, *पूँजी : अर्थशास्त्र की एक समीक्षा*, खण्ड ३, पृ० ६२४–२५)।

प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था उत्पादन की जिस प्रणाली पर आधारित होती है, उसके लिये आवश्यक है कि खेती के साथ घरेलू दस्तकारी और हाथ से किये जाने वाले धंधे भी, गौण काम के रूप में, जुड़े हुए हों। प्राचीन यूरोप में और मध्य युग के यूरोप में यही बात थी और आजकल की उन भारतीय ग्राम-पंचायतों में भी यही बात है, जिनमें परिवर्तनकालीन संगठन अभी नष्ट नहीं हुआ है। परन्तु, उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली से खेती और दस्तकारी का यह सम्बन्ध बिलकुल भंग हो जाता है। यदि हम अठारहवीं सदी के अन्तिम तैंतीस वर्षों के इंग्लैण्ड को लें तो इस प्रक्रिया का बड़े पैमाने पर अध्ययन कर सकते हैं। (मार्क्स, *पूँजी : अर्थशास्त्र की एक समीक्षा*, खण्ड ३, पृ० ६१३)।

डॉ० बॉउरिंग का कहना है :

"मेरे पास गवर्नर-जनरल और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कुछ पत्र हैं। यह पत्र-व्यवहार ढाका के बुनकरों के बारे में है। गवर्नर साहब ने अपने पत्र में लिखा है : 'कुछ वर्षों पहले, ईस्ट इण्डिया कम्पनी

इस देश के करघों पर बने कैलिको (विशेष प्रकार का कपड़ा) के ६० लाख से लगाकर ८० लाख तक टुकड़े हर साल खरीदा करती थी। पर, मांग धीरे-धीरे कम होती गई और क़रीब दस लाख टुकड़ों की रह गई। अब इस कपड़े को मांग लगभग बिलकुल बन्द हो गई है।' इसके अलावा, १८०० में उत्तरी अमरीका हिन्दुस्तान से सूती कपड़े के क़रीब ८ लाख टुकड़े मंगाया करता था। १८३० में, उसने ४ हज़ार टुकड़े भी नहीं मंगाये। १८०० में, पुर्तगाल दस लाख टुकड़े मंगाता था। १८३० में, उसने २०,००० से अधिक नहीं मंगाये।

"हिन्दुस्तानी बुनकरों की दुर्दशा के जो समाचार आये हैं, वे सच-मुच बड़े भयानक हैं। और, इस दुर्दशा का मूल कारण क्या है? इसका मूल कारण है—इंग्लैण्ड के कारखानों का बना माल। जो माल हिन्दुस्तान में हाथ से चलने वाले करघों पर बनता था, वह अब इंग्लैण्ड में भाप से चलने वाले करघे पर बनने लगा है। बहुत से बुनकर भूख से तड़प-तड़प कर मर गये। बाक़ी कोई और काम, अधिकतर खेतों पर मज़दूरी—करने लगे। जो लोग नया काम नहीं कर पाते थे, वे बिना मौत मारे जाते थे। और, अब यह हालत है कि ढाका जिला अंग्रेज़ी सूत और अंग्रेज़ी कैलिको से पटा हुआ है। ढाके की मलमल, जो अपनी सुन्दरता और मज़बूती के लिये सारी दुनिया में प्रसिद्ध थी, इंग्लैण्ड की मशीनों के सामने फ़ीकी पड़ गई है। हिन्दु-स्तान के इन पूरे वर्गों पर जो मुसीबत आई है, उसकी शायद व्यापार के सम्पूर्ण इतिहास में कोई मिसाल न मिलेगी।"

मिस्टर बॉउरिंग का भाषण इसलिये और भी महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने जो बातें बताई हैं, वे सब सही हैं और उन पर जिस शब्दावली का आवरण उन्होंने चढ़ाने की कोशिश की है, वह स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों की आम बगुलाभगती का ही एक नमूना है। वह इस तरह बातें करते हैं जैसे मज़दूर उत्पादन के साधन मात्र हों और जिस काम का वह जिक्र कर रहे हैं वह मानो कोई विशेष प्रकार का अनोखा काम हो। और, जिस

मशीन ने बुनकर का सत्यानाश किया है वह जैसे कोई खास तरह की अनोखी मशीन हो। वह यह भूल जाते हैं कि आज हाथ से करघा चलाने वाले बुनकर का जो हाल हुआ है, वह कल किसी भी दस्तकार का हो सकता है। (मार्क्स, स्वतन्त्र व्यापार पर एक भाषण के दौरान में जो *दर्शन का दारिद्र्य* नामक पुस्तक के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुआ है, पृ० २२०-२१)।

पूंजीवाद के पूर्वजों ने दौलत बटोरने के लिये, ख़ास तौर पर सुदूर पूर्व में, कैसे तरीक़े इस्तेमाल किये थे ?—लूटमार, दूसरों को गुलाम बनाना, और हत्या। और, इस दौलत को और भी बढ़ाने के लिये प्रारम्भिक साम्राज्यवादी पूंजीवाद ने किन हथकण्डों का इस्तेमाल किया था ?

अमरीका में सोने और चांदी का पा जाना, वहाँ के आदि-वासियों का सोने-चांदी की खानों में गुलामों की तरह काम करना, दब-दब कर मर जाना और इस तरह एक पूरी क़ौम का ख़तम हो जाना, पूर्वी द्वीप-समूह की विजय और लूट का आरम्भ होना, अफ्रीका का हब्शी गुलामों का व्यापार करने वाले सौदागरों की शिकारगाह बन जाना,—ये थीं वे घटनाएँ जिन्होंने पूँजीवादी उत्पादन के युग के अरुणोदय की सूचना दी थी। इन सुन्दर घटनाओं के द्वारा ही पूँजीपतियों के पूर्वजों को अपनी दौलत बटोरने में गति मिली थी। इनके बाद, तुरन्त ही यूरोप के राष्ट्रों का व्यापारिक महाभारत छिड़ गया, जिसका कुरुक्षेत्र पूरा भूगोल था। वह शुरू हुआ स्पेन के खिलाफ़ नीदरलैण्ड्स के विद्रोह से; इंग्लैण्ड के जैकोबिन-विरोधी युद्ध में उसने भीमाकार रूप धारण किया और चीन के खिलाफ़ अफ़ीम की लड़ाइयों जैसे युद्धों के रूप में यह महाभारत आज भी जारी है।

प्रारम्भिक धन-संग्रह की विभिन्न प्रेरक शक्तियाँ स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड

फ्रांस और इंग्लैण्ड में—कमोवेश इसी क्रम में—काम करती रही हैं। १७वीं सदी के अन्त में, इंग्लैण्ड में वे से एक व्यवस्थित रूप में एक जगह इकट्ठी हो गईं। उपनिवेशों की लूट, राष्ट्रीय क़र्ज़ का दुरुपयोग, कर लगाने की आधुनिक प्रणाली और विदेशी माल पर चुंगी लगा कर देशी उद्योगों की रक्षा करने की व्यवस्था—सभी तरीक़े वहाँ धन-संग्रह के लिये इस्तेमाल किये गये। इनमें से कुछ तरीक़े पशु-वल पर निर्भर करते थे, जैसे औपनिवेशिक व्यवस्था। परन्तु राज्य की शक्ति का सभी तरीक़ों में इस्तेमाल किया जाता था। राज्य रूप में समाज की केन्द्रीभूत और संगठित शक्ति का उपयोग इसलिये किया जाता था कि उत्पादन की सामन्ती प्रणाली को जल्दी से और जवर्दस्ती पूँजीवादी प्रणाली में वदल दिया जाय और इस परिवर्तन में कम से कम समय लगे। हर उस पुराने समाज में, जिसके गर्भ में नये समाज का वीज होता है, वल-प्रयोग दाई का काम करता है। वस्तुतः, वल-प्रयोग स्वयं एक आर्थिक शक्ति है।

ईसाई धर्म के विशेषज्ञ, डब्० हौविट ने ईसाइयों की औपनिवेशिक व्यवस्था के वारे में लिखा है : "ईसाई कहलाने वाली नस्ल ने दुनिया के हर उस हिस्से में, और हर उस क़ौम पर जिसे वह जीतने में कामयाव हुई है, जो ज़ुल्म, वर्वरता और अत्याचार किया है, वह इतिहास के किसी भी युग में, और किसी भी नस्ल ने—वह चाहे कितनी ही खूँख़ार और जाहिल क्यों न रही हो और दया तथा संकोच से कितनी ही हीन क्यों न रही हो—नहीं किया।"[1] हॉलैण्ड के औपनिवेशिक शासन का इतिहास—

१. विलियम हौविट : **औपनिवेशीकरण और ईसाई धर्म : यूरोपियनों के सभी उपनिवेशों में वहाँ के निवासियों के साथ उनके व्यवहार का सरल इतिहास,** लन्दन १८३८, पृ० ६। गुलामों के साथ किये गये व्यवहार के वारे में एक वड़ा अच्छा संग्रह है : चार्ल्स कौम्ते का 'त्राते दे ला लेजिस्लेशियाँ', १८३७। इस विषय का विस्तार से अध्ययन करना चाहिए, तभी मालूम होगा कि पूँजीपति स्वयं अपने को और मज़दूर को क्या वना देता है, और जहाँ भी वह विना किसी रोक के काम कर सकता है, वहाँ किस तरह सारी दुनिया को अपने रूप में ढाल देता है।

और हौलैण्ड १७वीं सदी का प्रमुख पूँजीवादी देश था—"असाधारण विश्वासघात, भ्रष्टाचार, रक्तपात, हत्याओं और नीचता का इतिहास है।"[1] इसका सबसे अच्छा उदाहरण यह है कि जावा से गुलाम प्राप्त करने के लिये वे किस तरह मनुष्यों की चोरी करते थे। चोरी करने वालों को इस धन्धे की विशेष शिक्षा दी जाती थी। इस व्यापार के खास एजेन्ट होते थे: चोर, दुभाषिया और बेचने वाला। बेचने वालों में खास देशी राजा-नवाब होते थे। चुराये गये लड़के-लड़कियों को 'सेलीबीज' के गुप्त तहखानों में बन्द कर दिया जाता था और उन्हें वहाँ से तभी निकाला जाता था जब उन्हें गुलामों के जहाज में भर कर भेजने का पूरा इन्तजाम हो जाता था। एक सरकारी रिपोर्ट का कहना है: "मकासर नाम का यह अकेला शहर ही अनगिनत गुप्त क़ैदखानों से भरा पड़ा है, जिनमें से हरेक दूसरे से अधिक भयंकर है। हरेक में धन-लिप्सा और अत्याचार के शिकार, ऐसे असंख्य अभागे नर-नारी जंजीरों से बंधे पड़े हैं जिन्हें उनके संगी-सम्बन्धियों से जबर्दस्ती अलग कर दिया गया है।"

मलाका पर अधिकार करने के लिये, डचों ने पुर्तगाली गवर्नर को घूस दी। १६४१ में, उसने उन्हें शहर में घुस आने दिया। वे सीधे उसके घर पहुँचे और उन्होंने जाकर उसे क़त्ल कर डाला ताकि उन्हें विश्वासघात का मूल्य न चुकाना पड़े और उसे २१,८७५ पौंड न देने पड़ें। जहाँ-जहाँ डचों के चरण पड़ते गये, वहीं तबाही और ग़ारतगरी होती गई। बांगूवांगी नामक जावा के एक सूबे में १७५० में ८०,००० की आबादी रहा करती थी। १८११ में, उसकी संख्या १८,००० रह गई। कितना सुन्दर व्यापार था डचों का!

सभी जानते हैं कि अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी को, हिन्दुस्तान पर राजनीतिक शासन करने के अलावा, चाय के व्यापार पर, आम तौर पर चीन के साथ होने वाले व्यापार पर, और यूरोप से सामान लाने-लेजाने पर एकाधिकार भी मिला हुआ था। परन्तु, हिन्दुस्तान के समुद्री किनारे के

१. देखिये, सर स्टैनफ़ोर्ड रैफ़ल्स का जावा का इतिहास, १८१७।

बन्दरगाहों के बीच और विभिन्न द्वीपों के बीच होने वाला व्यापार, तथा हिन्दुस्तान का अन्दरूनी व्यापार, कम्पनी के ऊँचे कर्मचारियों के एकाधिकार में था। नमक, अफ़ीम, पान आदि वस्तुओं के एकाधिकार से बेशुमार दौलत इकट्ठी होती थी। कर्मचारी खुद विभिन्न वस्तुओं के दाम निश्चित कर देते थे और फिर अभागे हिन्दुस्तानियों को खूब लूटते थे। गवर्नर-जनरल भी इस व्यापार में भाग लेता था। वह अपने चहेतों को ठेके देता था और उन ठेकों से वे लोग इस तरह सोना बनाते थे कि क्या कोई कीमियागर बनायेगा। कितने ही फटेहाल एक दिन के अन्दर धनकुबेर बन गये। बिना एक शिलिंग की पूँजी लगाये, प्रारम्भिक धन-संग्रह हो रहा था। वारेन हेस्टिंग्ज़ पर मुक़द्दमा चला तो ऐसे कितने ही मामले सामने आये। एक उदाहरण लीजिये। सुलीवान नाम के एक सज्जन को किसी सरकारी काम पर हिन्दुस्तान भेजा गया और चलते समय उन्हें अफ़ीम का ठेका भी दे दिया गया। पर, मुश्किल यह थी कि हिन्दुस्तान के जिस हिस्से में वह जा रहे थे, वहाँ अफ़ीम नहीं होती थी। इसलिये, सुलीवान ने अपना ठेका बिन्न नाम के एक दूसरे आदमी को ४०,००० पौण्ड में बेच दिया। बिन्न ने उसी रोज़ उसे ६०,००० पौण्ड में बेच दिया। और इस तरह, जिस आदमी के हाथ में अन्त में ठेका पहुँचा, उससे पूछा गया तो मालूम हुआ कि उसने भी ठेके से जी भर कर मुनाफ़ा कमाया। पार्लामेण्ट के सामने पेश की गई एक फ़ेहरिस्त से पता चलता है कि १७५७ और १७६६ के बीच कम्पनी और उसके कर्मचारियों ने हिन्दुस्तानियों से नज़र-भेंट के रूप में ६० लाख पौण्ड हासिल किये थे। १७६६ और १७७० के बीच, अंग्रेज़ों ने मुल्क का सारा चावल खरीद कर और उसके दाम बेइन्तहा बढ़ा कर अकाल पैदा कर दिया था।[1]

आदिम निवासियों के साथ सबसे भयानक व्यवहार, स्वभावतः, एक

---

१. १८६६ में, अकेले उड़ीसा में १० लाख हिन्दुस्तानी भूख से मर गये। पर, इस मौक़े पर भी भूखी जनता के हाथों जीवन के लिये आवश्यक चीज़ें खूब बढ़े-चढ़े दामों पर बेची गई ताकि सरकारी खज़ाना भरा जा सके।

तो पश्चिमी द्वीप-समूह जैसे उन उपनिवेशों में हुआ जिनमें बागान लगाये गये थे और जिनका एकमात्र उपयोग निर्यात-व्यापार के लिये था, और दूसरे, मैक्सिको तथा भारत जैसे उन घनी आबादी वाले सम्पन्न देशों में हुआ जिनको लूटना ही मुख्य उद्देश्य था। परन्तु, जिन देशों को सचमुच उपनिवेश कहा जा सकता था, उनमें भी प्रारम्भिक धन-संग्रह की 'ईसाइयत' में कमी नहीं आई! प्रोटेस्टेंटवाद के गम्भीर कलाविद्, न्यू इंग्लैण्ड के प्यूरिटनों ने १७०३ में बाक़ायदा अपनी परिषद् बुला कर यह फ़ैसला किया कि हर आदिम अमरीका निवासी को मार कर लाने या जिन्दा पकड़ने पर ४० पौण्ड का इनाम दिया जायगा। १७४४ में, जबकि मैस्सेचुसेट के आदिम निवासियों के एक पूरे क़बीले को बाग़ी घोषित कर दिया गया था, तो १२ वर्ष के या उससे अधिक उम्र वाले मर्द को मार कर लाने पर १०० पौण्ड, उन्हें जिन्दा पकड़ने पर १०५ पौण्ड, औरतों और बच्चों को जिन्दा पकड़ने पर ५० पौण्ड और मार कर लाने पर भी ५० पौण्ड के इनामों का ऐलान किया गया था। कुछ पीढ़ियाँ गुजर जाने के बाद, औपनिवेशिक व्यवस्था ने इन धर्मनिष्ठ 'तीर्थ-यात्री संस्थापकों' से, जो इस बीच खुद बाग़ी हो गये थे, बदला लिया। अंग्रेज़ों ने उनके खिलाफ़ आदिम निवासियों को उकसाया, जिन्होंने अंग्रेजों से पैसे ले लेकर अब इन लोगों को अपनी कुल्हाड़ियों का शिकार बनाया। ब्रिटिश पार्लामेण्ट ने शिकारी कुत्तों को इस्तेमाल करने और विद्रोहियों की खोपड़ियाँ उतार लेने की प्रथा के बारे में घोषणा कर दी कि "ये ईश्वर और प्रकृति के दिये हुए साधन हैं!"

औपनिवेशिक व्यवस्था ने व्यापार और जहाजरानी को मानो पका कर तैयार कर दिया। लूथर ने जिन्हें "एकाधिकारी समितियाँ" कहा है, वे पूँजी के केन्द्रीकरण के शक्तिशाली साधन बन गईं। उपनिवेशों में नये कारख़ानों के बने हुए माल के लिये बाजार मिल गये और क्योंकि इन बाज़ारों पर पूँजीपतियों का एकाधिकार था, इसलिये बेरोक मुनाफ़ा कमाया गया, और धन-संग्रह और भी तेजी से हुआ। यूरोप के बाहर के देशों में खुली

लूट के ज़रिये, लोगों को गुलाम बना कर और रक्तपात के द्वारा जो दौलत जमा हुई, वह पूँजीपतियों के अपने देशों में पहुँची और वहाँ पहुँच कर पूँजी बन गई। हौलैण्ड ने सबसे पहले औपनिवेशिक व्यवस्था का पूर्ण विकास किया था और १६४८ में ही वह व्यापारिक महानता के शिखर पर पहुँच चुका था। "पूरब के व्यापार पर और दक्षिण-पूर्वी यूरोप तथा उत्तर-पश्चिमी यूरोप के बीच होने वाले व्यापार पर उसका एकछत्र अधिकार था। उसका मछली मारने का उद्योग, जहाज़ी बेड़ा और कल-कारखाने दूसरे किसी भी देश से आगे बढ़े हुए थे। उसकी कुल पूँजी शायद बाक़ी तमाम यूरोप की कुल पूँजी से भी अधिक महत्वपूर्ण थी।" यहाँ गुलिच केवल इतना जोड़ना भूल गया कि १६४८ तक हौलैण्ड के लोग इतने ग़रीब हो गये थे, उनसे इतनी सख़्त मेहनत ली जाती थी और उन पर इतना निर्मम दमन किया जाता था कि बाक़ी तमाम यूरोप के लोग मिल कर भी इस बात में उनका मुक़ाबिला नहीं कर सकते थे।

आज औद्योगिक प्रभुता का मतलब व्यापारिक प्रभुता होता है। दूसरी ओर, बड़े पैमाने पर उत्पादन के काल में, व्यापारिक प्रभुता से औद्योगिक प्रभुत्व पैदा होता था। यही कारण है कि व्यापार का उस काल में इतना महत्व बढ़ गया था। यह एक "नवीन और विचित्र देवता" पैदा हो गया था, जो पहले यूरोप के पुराने देवताओं के साथ एक ही सिंहासन पर बैठा दिखाई देता था और जिसने फिर एक दिन बाक़ी सारे देवताओं को लात मार कर धूल में गिरा दिया और घोषणा कर दी कि अतिरिक्त-मूल्य कमाना ही मानवता का एकमात्र उद्देश्य और लक्ष्य है। (मार्क्स, *पूँजी : अर्थशास्त्र की एक समीक्षा*, खण्ड १, पृ० ८२३-८२७)।

एक ओर, मशीनों का तात्कालिक प्रभाव यह पड़ता है कि उनमें इस्तेमाल होने वाला कच्चा माल ज़्यादा तैयार होने लगता है, जैसे मिसाल के लिये, जब रुई धुनने की मशीन का प्रयोग होने लगा तो कपास की पैदावार बहुत बढ़ गई। दूसरी ओर, मशीनों से बना माल सस्ता होता है और मशीनों के इस्तेमाल से यातायात और सूचना के साधनों में भी बड़ी उन्नति

हो जाती है और इन दोनों बातों से विदेशी बाजारों को जीतने में बड़ी मदद मिलती है। दूसरे देशों की दस्तकारियों को चौपट करके, मशीनें उन्हें कच्चा माल तैयार करने वाले मुल्कों में बदल देती हैं। इस प्रकार, हिन्दुस्तान को ब्रिटेन के लिये कपास, सन, पाट और नील की पैदावार करनी पड़ी। थोड़े-थोड़े समय के बाद मजदूरों के एक हिस्से को "फ़ालतू" क़रार देकर, आधुनिक उद्योग-धंधे प्रत्येक उस देश में, जहाँ उनकी जड़ें जम गई हैं, लोगों को रोज़गार की तलाश में देश छोड़ कर जाने के लिये और विदेशों में जाकर बसने के लिये मजबूर करते हैं। इस तरह, ये मुल्क स्वदेश के लिये कच्चा माल तैयार करने वाली बस्तियाँ बन जाते हैं, जैसे मिसाल के लिये, आस्ट्रेलिया ऊन पैदा करने वाला उपनिवेश बन गया है। इस प्रकार, दुनिया में एक नया और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन हो जाता है, जो आधुनिक उद्योग-धन्धों के मुख्य केन्द्रों के लिये बड़ा हितकर होता है। इस विभाजन में, दुनिया का एक हिस्सा प्रधानतः खेतिहर क्षेत्र हो जाता है और दूसरा हिस्सा प्रधानतः औद्योगिक क्षेत्र रहता है, और पहला हिस्सा दूसरे को कच्चा माल भेजता है। (मार्क्स, *पूँजी : अर्थशास्त्र की एक समीक्षा*, खण्ड १, पृ० ४६२-६३)।

इस प्रकार, पेशगी लेकर बड़े पैमाने पर हिन्दुस्तान और चीन को माल भेजने की प्रथा शुरू हुई और जल्द ही वह केवल पेशगी लेने के लिये माल भेजने की प्रथा में बदल गई। नीचे हमने इस प्रथा का और विस्तार से वर्णन किया है। इसका लाजिमी नतीजा यह हुआ कि बाजार माल से पट गये और आर्थिक संकट की नौबत आ गई।······

अब, हिन्दुस्तान के व्यापार में जो ठगी होती है उसका हाल सुनिये। वहाँ अब हुण्डियाँ इसलिये नहीं बनाई जातीं कि माल खरीदा गया है, बल्कि माल इसलिये खरीदा जाता है कि ऐसी हुण्डियाँ बनाई जा सकें जिन पर कमीशन मिले और जिन्हें नक़दी में बदला जा सके। इस सम्बन्ध में 'मैनचेस्टर गार्डियन' ने २४ नवम्बर, १८४७ को लिखा था कि यह व्यापार इस तरह होता है कि लन्दन के कोई मिस्टर 'क' मिस्टर 'ख' को आज्ञा देते हैं

कि मैनचेस्टर के कारखानेदार 'ग' से माल खरीदकर हिन्दुस्तान के मिस्टर 'व' के पास भेज दो। 'ख', 'ग' को छः-छः महीने की हुण्डियों के रूप में दाम दे देते हैं, जिन्हें 'ग' 'ख' से भुनायेगा। 'ख', 'क' से छः-छः महीने की हुण्डियाँ ले लेता है, ताकि उसकी स्थिति सुरक्षित रहे। माल के जहाज़ पर लदने के बाद, जैसे ही जहाज का परवाना बनकर आता है, 'क' 'व' के नाम की हुण्डियाँ रवाना कर देता है। इस प्रकार, माल के दाम सचमुच चुकने के कई महीने पहले ही माल ख़रीदने वाले को और जहाज पर लादने वाले को धन मिल जाता है। और, यह भी एक आम प्रथा थी कि जब हुण्डियों को भुनाने की तारीख़ आ जाय तो इस बहाने से कि इतने लम्बे व्यापार में माल बिकने में समय तो लगेगा ही, हुण्डियों को फिर जारी करा लिया जाता था। दुर्भाग्य से, यह ऐसा व्यापार था जो नुकसान होने पर भी कम नहीं होता था, बल्कि और फैलता था। जैसे-जैसे कुछ व्यापारी ग़रीब होते जाते थे, वैसे-वैसे उनकी माल खरीदने की ज़रूरत बढ़ती जाती थी, क्योंकि पुराने सौदों में जो पूँजी चली गई थी, उसे पूरा करने के लिये नई रक़में पेशगी में पाने का और कोई तरीक़ा न था। तब माल यह देख कर नहीं ख़रीदा जाता था कि उसकी कितनी मांग है और बाजार में कितना माल आ चुका है, बल्कि माल खरीदना हर लड़खड़ाती हुई फ़र्म का खास काम बन जाता था। लेकिन, यह तसवीर का सिर्फ़ एक पहलू है। कारख़ानों के बने माल के निर्यात के सिलसिले में यहाँ जो कुछ हुआ, वही सब दूसरी तरफ़ माल की ख़रीदारी और जहाज पर ढोने के सम्बन्ध में हो रहा था। हिन्दुस्तान की कम्पनियाँ जिनकी इतनी साख बाजार में थी कि उनकी हुण्डियाँ भुन जाती थीं, शक्कर, नील, रेशम या कपास इसलिये नहीं ख़रीदती थीं कि उनके भाव लन्दन के हाल के भावों से बहुत कम थे, बल्कि इसलिये ख़रीदती थीं कि उनके पास लन्दन की किसी फ़र्म की हुण्डियाँ थीं जिन्हें भुनाने का समय आ गया था। ऐसी हालत में, इससे आसान बात और क्या हो सकती थी कि शक्कर ख़रीद ली जाय और उसके दामों के एवज में लन्दन की फ़र्म के नाम पर दस महीने की हुण्डियाँ निकाल दी जायें

और जहाज़ का परवाना डाक से लन्दन रवाना कर दिया जाय। लन्दन की फ़र्म शक्कर को लोम्बार्ड स्ट्रीट में रहन रख देती थी और उसे इस सौदे का भुगतान होने के आठ महीने पहले ही पैसा मिल जाता था। और, जब तक भुगतान करने वाली फ़र्मों के पास जहाज के परवानों और बन्दरगाह के गोदाम की रसीदों पर पेशगी देने के लिये तथा मिंसिंग लेन की चुनी हुई फ़र्मों के नाम जारी की गई हिन्दुस्तानी फ़र्मों की बेशुमार रक़मों की हुण्डियों का भुगतान करने के लिए काफ़ी रुपया रहता था, तब तक यह काम बड़ी सुगमता से और बिना किसी कठिनाई या रुकावट के चलता रहता था।

(यह ठगी का व्यापार उस वक्त तक जारी रहा जब तक हिन्दुस्तान से माल गुड होप के अन्तरीप का चक्कर काट कर आता-जाता रहा। परन्तु, जब माल स्वेज नहर के ज़रिये आने-जाने लगा तब कल्पित पूँजी पैदा करने की इस प्रणाली का कोई आधार नहीं रह गया, क्योंकि भाप के जहाजों के कारण रास्ता बहुत छोटा हो गया। और, जब तार के ज़रिये हिन्दुस्तानी बाज़ार का हाल इंग्लैण्ड के व्यापारियों को और इंग्लैण्ड के बाज़ार का हाल हिन्दुस्तान के व्यापारियों को दिन के दिन मिलने लगा तो यह प्रणाली एकदम समाप्त हो गई—एंगेल्स) (मार्क्स, *पूँजी : अर्थशास्त्र की एक समीक्षा*, खण्ड ३, पृ० ४८०-४८२)।

और दूर के देशों में, जहाँ बहुमूल्य धातुएँ आसानी से नहीं मिलतीं, जब इंग्लैण्ड रुपया भेजने के लिये हुण्डियाँ कम पड़ जाती हैं, तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि इंग्लैण्ड जाने वाले माल के भाव चढ़ जाते हैं और उसकी मांग बढ़ जाती है जिससे कि हुण्डियों के बदले में इस माल को इंग्लैण्ड भेजा जा सके। हिन्दुस्तान में अक्सर ऐसा होता है।

जब इंग्लैण्ड में सोने की बहुतायत होती है, सूद की दर कम होती है और हुण्डियों के दाम ऊँचे होते हैं, तब विनिमय की दर से देश को नुक़सान होने लगता है और कभी-कभी तो बड़ी मात्रा में सोना देश के बाहर चला जाता है।

१८४८ में, हिन्दुस्तान से बहुत बड़ी मात्रा में चाँदी इंग्लैण्ड आई।

इसका कारण यह था कि अच्छी हुण्डियाँ कम पड़ गई थीं और साधारण हुण्डियों को १८४७ के संकट और हिन्दुस्तानी व्यापार की साख गिर जाने के परिणामस्वरूप लोग आसानी से स्वीकार नहीं करते थे। यह सारी चाँदी इंग्लैण्ड आते ही बड़ी तेज़ी से यूरोप पहुँच गई, क्योंकि वहाँ क्रान्ति के कारण लोग सोना-चाँदी जमा करने लगे थे। और १८५० में, यही चाँदी वापिस हिन्दुस्तान पहुँच गई, क्योंकि उस साल विनिमय की दर ऐसी हो गई थी कि चाँदी हिन्दुस्तान भेजने में ही नफ़ा था। (मार्क्स, *पूँजी : अर्थशास्त्र की समीक्षा*, खण्ड ३, पृ० ६६५-६६)।

त्रेलिये ज़ोंद के व्यापार ने फिर बड़ा राजनीतिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है, क्योंकि उसके कारण एशिया के भीतरी भागों में एक बार फिर रूस और इंग्लैण्ड के हितों में टक्कर होने लगी है। १८४० तक, रूसियों को इस क्षेत्र को कारखानों का बना विदेशी माल पहुँचाने का लगभग एकाधिकार मिला हुआ था। सिंधु नदी तक रूसी माल बिकता और कहीं-कहीं तो लोग उसे अंग्रेज़ी माल से भी ज़्यादा पसन्द करते थे। अफ़ग़ान-युद्ध और सिंध और पंजाब की विजय तक, हम कह सकते हैं कि एशिया के भीतरी भागों से इंग्लैण्ड का व्यापार नहीं के बराबर था। पर, अब परिस्थिति बदल गई है। व्यापार को लगातार बढ़ाते रहने की आवश्यकता आधुनिक इंग्लैण्ड की सबसे बड़ी आवश्यकता बन गई है और उसे भूत की तरह सता रही है। इस भूत को सन्तुष्ट नहीं किया जाता तो ऐसा भूकम्प आता है जो न्यू यॉर्क से कैण्टन तक और सेण्ट पीटर्सबर्ग से सिडनी तक सारी दुनिया को हिला देता है। इस अनिवार्य आवश्यकता के कारण, अंग्रेज़ व्यापारी दो ओर से एशिया के भीतरी भागों पर चढ़ाई कर रहे हैं— एक, सिंधु नदी की ओर से; दूसरे, काले सागर की ओर से। और, यद्यपि दुनिया के इस भाग के साथ रूस के व्यापार के बारे में हम बहुत कम जानते हैं, फिर भी इस क्षेत्र में जाने वाले अंग्रेज़ी माल की मात्रा बढ़ने से यह परिणाम तो निकाला ही जा सकता है कि इस क्षेत्र में रूसी माल का निर्यात काफ़ी कम हो गया होगा। इस प्रकार, इंग्लैण्ड और रूस के व्यापारिक

युद्ध का मैदान, सिंधु नदी के क्षेत्र से हटकर, अब त्रेलिये जोंद में आ गया है। और रूसी व्यापार, जो पहले इंग्लैण्ड के पूर्वी साम्राज्य की सीमा तक पहुँच गया था, अब इतना सिकुड़ गया है कि खुद अपने चुंगी के नाकों की सीमा से बहुत आगे नहीं बढ़ पाता। अतः स्पष्ट है कि पूरब के सवाल के किसी भी भावी समाधान में और उसके सिलसिले में इंग्लैण्ड और रूस दोनों की भूमिका निश्चित करने में, इस सचाई का बहुत बड़ा महत्त्व रहेगा। पूरब में ये दोनों शक्तियाँ सदा एक-दूसरे की विरोधी रही हैं और रहेंगी। (मार्क्स, *पूरब का सवाल*, पृ० १५)।[१]

१५०० और १८०० के बीच, जब पुर्तगालियों और अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को जीता तो हिन्दुस्तान से सामान ले जाना उनका उद्देश्य था। हिन्दुस्तान को सामान भेजने की बात किसी ने सपने में भी नहीं सोची थी। और फिर भी, इन खोजों और जीतों का, जिनका एकमात्र उद्देश्य व्यापार को बढ़ाना था, उद्योगों पर कितना गम्भीर प्रभाव पड़ा! उन्हीं ने पहले-पहल इन देशों को सामान भेजने की आवश्यकता पैदा की और बड़े पैमाने के उद्योगों को बढ़ाया। (एंगेल्स, *कौनरेड श्मिड्ट को पत्र*, लन्दन, २७ अक्तूबर, १८९०)।

हिन्दुस्तान में बहुत जल्द अंग्रेजी सरकार को, यदि आम विद्रोह का नहीं, तो गम्भीर पेचीदगियों का सामना तो जरूर ही करना पड़ेगा। लगान, हिन्दुस्तानियों के लिये व्यर्थ रेलों के मुनाफ़े, फ़ौजी और सिविल कर्मचारियों की पेन्शनों, अफ़ग़ान-युद्ध तथा दूसरी लड़ाइयों के खर्चे आदि के रूप में अंग्रेज हर साल हिन्दुस्तानियों से कुछ न कुछ लेते रहते हैं। इस सबके बदले में वे उन्हें कुछ नहीं देते। यह सब उस दौलत से बिलकुल अलग होता है जो अंग्रेज हिन्दुस्तान के अन्दर ही हथियाते हैं, यानी उस सामान के मूल्य से अलग जो हिन्दुस्तानियों को हर साल मुफ़्त में इंग्लैण्ड भेजना पड़ता है। यह सब हिन्दुस्तान के छः करोड़ खेतिहर एवं औद्योगिक

१. १२ अप्रैल, १८५३ के **न्यू यौर्क ट्रिब्यून** में, 'तुर्की में वास्तविक समस्या' शीर्षक लेख से।

मज़दूरों की कुल आमदनी से भी अधिक होता है! प्रतिहिंसा की भावना से शरीर का रक्त निचोड़ना—इसी को कहते हैं! वर्ष प्रति वर्ष ऐसे भयंकर अकाल हिन्दुस्तान में पड़ रहे हैं जिनकी यूरोप में कल्पना भी नहीं की जा सकती। समाचार मिल रहे हैं कि हिन्दुस्तान में सचमुच एक षड़यन्त्र हो रहा है, जिसमें हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे से सहयोग कर रहे हैं। ब्रिटिश सरकार को भी मालूम है कि कुछ 'गड़बड़' होने वाली है। पर, ये छिछले लोग (मेरा मतलब सरकारी अधिकारियों से है), जिनका दिमाग़ी विकास सोचने और बोलने के पार्लामेन्टी ढंग में फँस कर रुक गया है, आने वाले खतरे को साफ़-साफ़ और पूरे विस्तार से देखना तक नहीं चाहते। दूसरों को धोखा देना और उन्हें धोखा देकर खुद धोखा खा जाना, यही पार्लामेण्टी बुद्धि का सार-तत्व है! अच्छा है खुद ही भुगतेंगे! (मार्क्स, *डेनियलसन को पत्र, लन्दन, १६ फ़रवरी, १८८१*)।

तुमने मुझसे पूछा है कि इंग्लैण्ड के मजदूर औपनिवेशिक नीति के बारे में क्या सोचते हैं। वही, जो वे आम राजनीति के बारे में सोचते हैं; वही, जो पूँजीपति सोचते हैं। यहाँ मज़दूरों की कोई पार्टी नहीं है। यहाँ तो केवल कंज़रवेटिव (अनुदार) और लिबरल-रैडिकल (उदार-उग्रवादी) हैं; और मजदूर मज़े से संसार के बाज़ारों और उपनिवेशों पर इंग्लैण्ड के एकाधिकार से मिलने वाली दौलत में हिस्सा बँटा रहे हैं। मेरी राय में, जो देश सचमुच उपनिवेश हैं, यानी जिनमें यूरोपियन आबादी का क़ब्ज़ा है—जैसे कनाडा, केप (दक्षिणी अफ्रीका), आस्ट्रेलिया—वे सब आज़ाद हो जायेंगे। दूसरी ओर, जिन देशों में वहाँ के देशी लोग रहते हैं, पर जिन्हें ग़ुलाम बना लिया गया है—जैसे हिन्दुस्तान, अल्जीरिया, और डचों, पुर्तगालियों तथा स्पेन वालों के आधीन देश—उन्हें फ़िलहाल मज़दूर वर्ग को अपने हाथ में ले लेना चाहिये और जल्द से जल्द स्वतन्त्रता की ओर ले जाना चाहिये। यह काम कैसे होगा, अभी कहना कठिन है। यह सम्भव है, और शायद हो भी यही, कि हिन्दुस्तान में एक क्रान्ति हो। मज़दूर वर्ग, जो स्वयं अपने को मुक्त करता है, उपनिवेशों की लड़ाइयाँ नहीं लड़ सकता। इसलिये, उसे हिन्दुस्तान की

क्रान्ति के प्रसार में मदद करनी होगी। अनेक तरह का विनाश किये बिना यह क्रान्ति पूरी न होगी, लेकिन इस तरह की बातें सभी क्रान्तियों में अवश्यम्भावी होती हैं। इसी तरह की बात दूसरी जगहों में भी हो सकती है—जैसे अल्जीरिया और मिश्र में—और हम लोगों के लिये भी यही सबसे अच्छी बात होगी।[1] हमें अपने मुल्क में काफ़ी काम करना होगा। और, एक बार यूरोप का और उत्तरी अमरीका का पुनर्संगठन हो जायगा तो उससे ऐसी प्रचण्ड शक्ति पैदा होगी और ऐसी मिसाल क़ायम होगी कि अर्द्ध-सभ्य देश अपने-आप उनके क़दमों पर चलने लगेंगे। आर्थिक आवश्यकताओं के ही कारण ऐसा होना लाज़िमी हो जायगा। परन्तु, समाजवादी संगठन तक पहुँचने के लिये, इन देशों को किन सामाजिक एवं राजनीतिक अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ेगा, इसके बारे में अभी से कुछ कहना, मेरी राय में, कोरी

1. **आत्म-निर्णय के वाद-विवाद का सारांश** नामक अपनी रचना में, लेनिन ने एंगेल्स के इन विचारों का विश्लेषण और विवेचन किया है और बताया है कि ताक़त पर क़ब्ज़ा करने तथा अपना एकाधिपत्य स्थापित करने के बाद मज़दूर वर्ग को उपनिवेशों की क़ौमों के सम्बन्ध में क्या नीति अपनानी चाहिये। लेनिन ने लिखा है :

"एंगेल्स का क़तई यह विचार नहीं है कि 'आर्थिक' कारणों से अपने-आप सीधे-सीधे सब कठिनाइयां दूर हो जायेंगी। आर्थिक क्रान्ति **सभी** क़ौमों को समाजवाद की ओर **बढ़ने के लिये** प्रेरणा देगी। परन्तु इसके साथ ही, समाजवादी राज्य के ख़िलाफ़ भी क्रान्तियाँ और युद्ध हो सकते हैं। राजनीति, लाज़िमी तौर पर, अर्थ-नीति का अनुसरण करती है; परन्तु तत्काल और आसानी से, सरलता से और सीधे ऐसा नहीं होता। एंगेल्स का केवल एक, पूर्णतः अन्तरराष्ट्रीयतावादी सिद्धान्त के बारे में "निश्चित मत है"; और इस सिद्धान्त को वह **सभी** "विदेशी क़ौमों" पर लागू करते हैं और उसे केवल औपनिवेशिक क़ौमों तक ही सीमित नहीं करते। वह यह कि यदि किसी भी विदेशी क़ौम पर ज़बर्दस्ती ख़ुशी लादने की कोई कोशिश की गई तो स्वयं मज़दूर वर्ग की जीत ख़तरे में पड़ जायेगी।

"केवल सामाजिक क्रान्ति कर लेने से ही मज़दूर वर्ग परम पुनीत और त्रुटियों और दोषों से मुक्त नहीं हो जायगा। वह उसके बाद भी ग़लतियाँ कर सकता है। परन्तु जो ग़लतियाँ सम्भव हैं, (और स्वार्थ, दूसरे की पीठ पर सवार होने की

कल्पनाएँ गढ़ना है। केवल एक बात निश्चित है। वह यह कि विजयी मज़दूर वर्ग किसी भी विदेशी जाति पर कोई भी वरदान, अपनी जीत को खतरे में डाले बिना, नहीं लाद सकता। पर, इसका यह मतलब नहीं कि विजयी मज़दूर वर्ग को अपनी रक्षा के लिये विभिन्न प्रकार के युद्ध नहीं लड़ने पड़ेंगे। (एंगेल्स, *कॉट्स्की को पत्र*, १२ सितम्बर, १८८२)।

कोशिश) लाज़िमी तौर पर उसे इस सचाई को समझने के लिए मजबूर करेगी।

"हमें, ज़िमेरवाल्द सम्मेलन के सभी उग्रवादी समर्थकों को, उस बात का विश्वास है जिसका, उदाहरण के लिये, कॉट्स्की को, १९१४ में, मार्क्सवाद को त्याग कर अंध-राष्ट्रवाद को अंगीकार करने के पहले पूर्ण विश्वास था; यानी इस बात का कि **बहुत ही निकट भविष्य में** समाजवादी क्रान्ति का होना सम्भव है, या जैसा कि खुद कॉट्स्की कहा करता था क्रान्ति "किसी भी दिन हो सकती है।" पर, राष्ट्र-गत द्वेष इतनी जल्दी दूर नहीं हो जायेंगे। दलित जाति की आततायी जाति के प्रति सर्वथा न्यायोचित घृणा कुछ समय तक **बनी रहेगी**। वह केवल समाजवाद की विजय के **बाद ही,** विभिन्न जातियों के बीच पूर्णतः जनवादी-सम्बन्ध कायम हो जाने के बाद ही, मिटेगी। यदि हम समाजवाद के प्रति वफ़ादार रहना चाहते हैं तो हमें अभी से जनता को अन्तरराष्ट्रीयता की शिक्षा देनी चाहिए। और, दूसरों पर जुल्म करने वाले किसी भी देश में यह शिक्षा उस वक्त तक नहीं दी जा सकती जब तक कि पीड़ित जातियों के अलग हो जाने के अधिकार का भी समर्थन और प्रचार न किया जाय।" ('लेनिन ग्रन्थावली' खण्ड १९)।

भारतीय विद्रोह

लन्दन, ४ सितम्बर, १८५७।

विद्रोही सिपाहियों[1] द्वारा भारत में किये गये अनाचार सचमुच भयानक, वीभत्स और अवर्णनीय हैं—जैसे कि हम केवल विप्लवकारी युद्धों में; जातियों, नस्लों और सबसे अधिक धर्मों के युद्धों में मिलने की आशा कर सकते हैं; एक शब्द में, जैसे कि वेन्दियनों[2] ने 'नीले' सैनिकों[3] पर किये थे, इंग्लैण्ड के भद्र लोग जिनकी तारीफ़ किया करते थे, जैसे कि स्पेन के छापेमारों ने अधर्मी फ्रांसीसियों पर, सर्वियनों ने अपने जर्मन और हंगेरी के पड़ौसियों पर, क्रोट लोगों ने वियेना के विद्रोहियों पर, कावेनाक के गतिशील गार्डों या बोनापार्ट के दिसम्बरवादियों ने मज़दूर फ्रांस पर किये थे। सिपाहियों का व्यवहार चाहे जितना दूषित क्यों न रहा हो, वह, एक तीव्र रूप में, भारत में इंग्लैण्ड के—न केवल उसके पूरबी साम्राज्य की नींव पड़ने के युग के बल्कि लम्बे जमे शासन के पिछले दस वर्षों के भी—व्यवहार का ही फल

---

१. **सिपाही :** अंग्रेज़ों की भारतीय सेना के स्थानीय निवासियों में से भर्ती किये गये सिपाही।—सं०

२. **वेंदियन लोग :** उस क्रान्ति-विरोधी विद्रोह में भाग लेने वाले, जो फ्रांसीसी राजतन्त्रवादियों ने प्रजातन्त्र के विरुद्ध, अँग्रेज़ों की सहायता से, १७९३ में वेंदी नामक स्थान (पश्चिमी फ्रांस) में भड़काया था।

३. **'नीले' सिपाही :** अठारहवीं सदी के अन्त में होने वाली फ्रांसीसी पूँजीवादी क्रान्ति के काल में प्रजातन्त्रवादी सेना के सिपाही और कन्वेंशन(क्रान्तिकारी सत्ता—अनु०) के आम तौर पर सभी अनुयायी नीले सिपाही कहलाते थे।

है। उसके शासन का गुण बताने के लिये यह कहना काफ़ी है कि उसकी आर्थिक नीति का आवश्यक अंग यन्त्रणा थी। मानव इतिहास में प्रतिशोध नाम का भी कुछ होता है; और ऐतिहासिक प्रतिशोध का यह नियम है कि उसका अस्त्र त्रस्त होने वाला नहीं, वरन् स्वयं त्रास देने वाला ही बनाता है।

फ्रांसीसी राजतन्त्र पर पहला वार अभिजात कुलों ने किया था, किसानों ने नहीं। भारतीय विद्रोह का आरम्भ अंग्रेजों द्वारा पीड़ित, अपमानित और नंगी बना दी गई रैयत ने नहीं किया, वरन् उनके द्वारा खिलाये-पिलाये, वस्त्र पहनाए, बिगाड़े, मोटे किये और दुलराये गये सिपाहियों ने ही किया। सिपाहियों के दुराचारों की तुलना के लिये, हमें मध्य-युगों की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है, जैसा कि कुछ लन्दन के समाचार पत्र बहाना करते हैं, और न हमें सामयिक इंग्लैण्ड के इतिहास से दूर जाने की ही आवश्यकता है। हमें केवल पहले चीनी युद्ध का अध्ययन करने की जरूरत है, जो एक ऐसी घटना है, जो मानो कल ही हुई थी। अंग्रेज सिपाहियों ने तब महज मज़े के लिये अनाचार किये थे। उनकी भावनाएँ न तो धार्मिक पागलपन से प्रेरित हुई थीं, न वे अहंकारी विजेता जाति के प्रति घृणा से उत्तेजित हुई थीं, न वे वीर शत्रु के कठिन प्रतिरोध से भड़की थीं। स्त्रियों पर बलात्कार, बच्चों को छेदना, पूरे गाँवों को भूनना—यह सब खेल मात्र थे, जिनका वर्णन मन्दारिनों ने नहीं, वरन् स्वयं ब्रिटिश अफ़सरों ने किया था। इस दुखद संकट में भी, यह सोच लेना नितान्त भूल होगी कि सभी क्रूरता सिपाहियों की तरफ़ से हुई है और सारा "मानवी दया का दूध" अंग्रेजों की तरफ़ से बहा है। ब्रिटिश अफ़सरों के पत्र द्वेष से भरे हुए हैं। पेशावर से एक अफ़सर दसवीं अनियमित घुड़सवार सेना के निरस्त्रीकरण का वर्णन लिखता है, जिसने पचपनवीं भारतीय पैदल सेना पर आक्रमण नहीं किया जब उसे वैसा करने की आज्ञा दी गई थी। वह इस बात पर गर्व करता है कि न केवल वे निहत्थे कर दिये गए, किन्तु उनके कोट और बूट भी छीन लिये गए और हर आदमी को एक शिलिंग देकर नदी के किनारे

भेज दिया गया और वहाँ वे नावों में बैठा कर सिन्धु नदी से दक्षिण की ओर रवाना कर दिये गए थे, जहाँ लेखक आह्लाद से आशा करता है कि शायद उनमें से प्रत्येक तेज भँवरों में डूब जायगा। एक और लेखक हमें बताता है कि कुछ पेशावर निवासियों ने एक शादी के मौके पर पटाखे छुटा कर (जो एक राष्ट्रीय रिवाज है) रात में घबराहट पैदा कर दी। अगली सुबह वे बाँध दिये गए और "उन्हें इतने कोड़े पड़े कि वे आसानी से न भूलेंगे।" पिंडी से खबर मिली कि तीन देशी राजा षड्यन्त्र कर रहे थे। सर जॉन लारेन्स ने एक सन्देश भेजा, जिसमें आज्ञा थी कि एक जासूस इस मन्त्रणा में भाग ले। जासूस के विवरण पर, सर जॉन ने एक और सन्देश भेजा: "इन्हें फाँसी दे दो।" राजाओं को फाँसी दे दी गई। सिविल सर्विस का एक अफ़सर इलाहाबाद से लिखता है: "हमारे हाथ में जीवन और मृत्यु की शक्ति है, और हम तुम्हें विश्वास दिलाते हैं कि हम कुछ उठा नहीं रखते।" एक और उसी स्थान से लिखता है: "कोई दिन नहीं जाता जब हम उनमें से (न लड़ने वालों में से) दस-पन्द्रह को न टांग देते हों।" एक अफ़सर शान दिखाता हुआ लिखता है: "होम्स, बढ़िया आदमी की तरह, उनमें से बीस-बीस को एक साथ फाँसी चढ़ा रहा है।" एक और, बड़ी संख्या में देशियों को झटपट फाँसी देने की बात करते हुए: "तब हमारा खेल शुरू हुआ।" तीसरा: "हम घोड़ों पर बैठे-बैठे ही अपने फ़ौजी फ़ैसले सुना देते हैं और जो कोई काला आदमी हमें मिलता है, या तो हम उसे टाँग देते हैं, या गोली मार देते हैं।" बनारस से हमें मालूम हुआ है कि तीस ज़मींदारों क अपने ही देशवासियों से सहानुभूति रखने के सन्देह मात्र पर फाँसी दे द 'गई, और इसी दलील पर पूरे गाँव के गाँव जला दिये गए। बनारस से एक अफ़सर जिसका पत्र लन्दन टाइम्स में छपा है, लिखता है: "देशियों का विरोध करने में यूरोपीय सैनिक शैतान बन गये हैं।" और, यह भी न भूलना चाहिए कि अंग्रेज़ों की क्रूरताएँ फ़ौजी मुस्तैदियों के कामों के रूप में वर्णित की गई हैं; आसानी से, शीघ्रता से, बिना घृणास्पद विस्तार के बताई गई हैं; लेकिन देशियों के दुराचार, यद्यपि वे स्वयं दिल को धक्का पहुँचाने

तथा काल के अनुसार बदलता रहता है। प्रखर पण्डित, सीजर, स्पष्ट बताता है कि किस प्रकार उसने सहस्रों गॉल सैनिकों के दाहिने हाथ कटवाने की आज्ञा दी थी। नेपोलियन को भी इसमें लज्जा आती। वह अपनी फ्रेंच सेनाओं को, जिन पर प्रजातन्त्रवादी होने का सन्देह होता था, सेण्ट डोमिन्गो भेजना अधिक पसन्द करता था, ताकि वहाँ वे काली जातियों और प्लेग के द्वारा ही मृत्यु प्राप्त करें।

सिपाहियों द्वारा किये गए वीभत्स अंग-भंग हमें ईसाई बाइज़ैण्टियन साम्राज्य की करतूतों, या सम्राट् चार्ल्स पंचम के फ़ौजदारी क़ानून के फ़तवों, या राजद्रोह के अपराध के लिये अंग्रेज़ों द्वारा दी जाने वाली सजाओं की—जिनका जज ब्लैक स्टोन की लेखनी से किया गया वर्णन अब भी उपलब्ध है—याद दिलाते हैं। हिंदुओं को—जिनके धर्म ने आत्म-यन्त्रणा की कला में उन्हें विशेष पटु बना दिया है—अपनी नस्ल और धर्म के शत्रुओं पर किये गए यह अत्याचार बिलकुल स्वाभाविक लगते हैं; और अंग्रेज़ों को तो—जो कुछ ही वर्षों पूर्व तक जगन्नाथ के उत्सव से कर पाते थे और क्रूरता के धर्म की रक्त-रंजित विधियों की सहायता और रक्षा करते थे—वे इससे भी अधिक स्वाभाविक लगने चाहिये।

"बेहूदा, खबीस *टाइम्स*"—कौबेट ने इसे यही नाम दिया था—का बौखलाहट भरा प्रलाप और मोत्ज़ार्ट के गीति-नाट्य[1] के क्रुद्ध पात्र का उसका अभिनय—जिसमें पहले शत्रु को फाँसी देने, फिर भूनने, फिर काटने, फिर कबाब बनाने, फिर जीते-जी उसकी खाल उधेड़ने के विचार को वह क्रुद्ध पात्र मधुर संगीत में व्यक्त करता है—और *टाइम्स* का अपने इस प्रलाप तथा अभिनय, दोनों ही के प्रदर्शन में प्रतिशोध की भावना के चिथड़े-चिथड़े उड़ा देना, यह सब बड़ा सिड़ीपन सा लगता यदि इस दुःखान्त-नाटक के करुण भाव में से प्रहसन-नाटक की चालाकियाँ भी साफ़ न झलकती होतीं।

---

१. मोत्ज़ार्ट के एक ओपेरा (Die Entfuhrung aus dem Serail) में एक अमीर पाशा के प्रमुख सहकारी, ओस्मिन द्वारा गाये हुए एक गीत का विवरण।—सम्पादक

लन्दन का टाइम्स अपना पार्ट अदा करने में कुछ अधिक अतिरंजना से काम लेता है। और, इसका कारण केवल भय ही नहीं है। वह प्रहसन-नाटक के लिये एक ऐसा विषय प्रस्तुत करता है जिसे मौलियेर की नजरें भी न देख सकी थीं—वह प्रतिशोध के तारतूफ़ की रचना करता है।[1] यह अतिरंजना वह केवल एक ही हित साधने के लिये कर रहा है—सरकार का कोप बढ़ाना और सरकार के चेहरे पर नकाब डालना। जैरिको की दीवारों[2] की तरह, दिल्ली हवा के झोंकों पर ही भरभरा कर न गिर पड़ेगी। इसलिये, यह ज़रूरी है कि जॉन बुल के कानों में प्रतिशोध की कर्ण-वेधी गुहार गूँजती रहे, जिससे कि वह यह भूल जाये कि सारी शरारत की और उसे इतना बड़ा आकार ग्रहण करने देने की सारी जिम्मेदारी उसकी अपनी सरकार पर ही है।

मार्क्स द्वारा ४ सितम्बर, १८५७ को लिखा गया।

न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून १६ सितम्बर, १८५७ के अंक में छपा।

बिना हस्ताक्षर के।

अखबार के पाठ के अनुसार छपा।

---

१. सत्रहवीं सदी के प्रसिद्ध फ्रांसीसी प्रहसन-नाटककार **मौलियेर** के एक प्रहसन का नायक **तारतूफ़** था तारतूफ़ धर्म का पाखंड करके अपना उल्लू सीधा किया करता था।—अनु०

२. **जैरिको**—बाइबिल की कथा के अनुसार, इज़रायेल की फ़ौजों ने जोशुआ के नेतृत्व में फ़िलीस्तीन के इस नगर पर आक्रमण किया था। जोशुआ को यह वरदान था कि वह जैरिको की सात परिक्रमायें करने के बाद, जैसे ही मेष के सींग की बनी दुंदभि बजायेंगे, वैसे ही **जैरिको** की दीवारें हवा के झोंकों से ही ढह जायेंगी। कथा के अनुसार, यही हुआ भी था।—अनु०